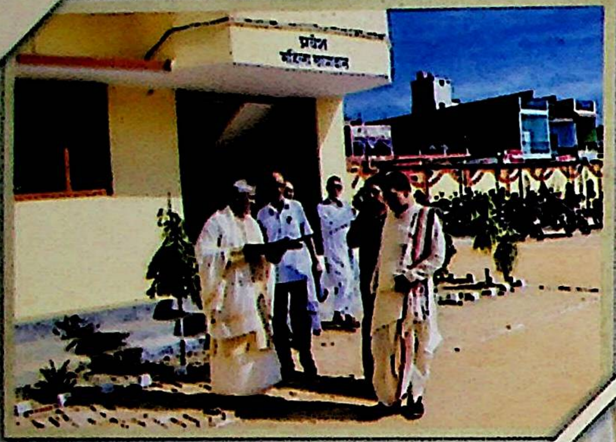
संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी की वार्षिक शोध पत्रिका

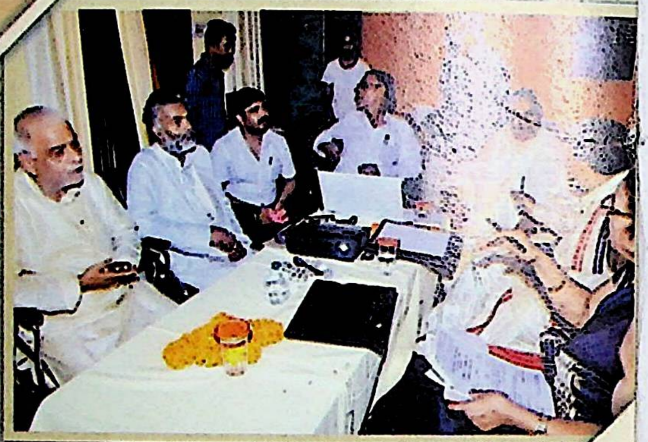
ज्योति



श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)



17 सितम्बर, 2017 को नैक पीयर टीम द्वारा निरीक्षण करते नैक टीम चेयर पर्सन प्रो. हरेकृष्ण सत्पथी व मेम्बर प्रो. के.वी. सुब्बारायडू साथ में महाविद्यालय के नैक को-आर्डिनेटर श्री मोहन पाण्डेय



17 सितम्बर, 2017 को नैक पीयर टीम के चेयर पर्सन प्रो. हरेकृष्णा सत्पथी, को-आर्डिनेटर प्रो. कला जैन, मेम्बर प्रो. के.वी. सुब्बारायडू, विश्वविद्यालय प्रतिनिधि प्रो. सुधाकर मिश्र व महाविद्यालय प्रबन्ध तन्त्र के प्रबन्धक श्री अग्निवेश मणि, मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, तत्कालीन प्राचार्य डॉ. रामसुबाष पाण्डेय।



स्वच्छता जागरुकता रैली 27 सितम्बर, 2018 का शुभारम्भ करते हाटा विधायक श्री पवन केडिया, पूर्व प्राचार्य डॉ. राम सुवाष पाण्डेय



निःशुल्क चिकित्सा शिविर 3 मई, 2019 मरीज़ों का कुर्सी पर परीक्षण करती डॉ. पुष्पा मिश्रा (लोकनायक जयप्रकाश मेडिकल कॉलेज, नई दिल्ली)।

संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी की वार्षिक शोध पत्रिका

'ज्योति'

हाटा-कुशीनगर

2019

श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

प्रकाशक -
प्रबन्धक
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर

मुद्रित प्रतियाँ - 500

मुद्रक
काशिका इण्टरप्राईजेज
रमदत्तपुर, पाण्डेयपुर, वाराणसी

प्रकाशन वर्ष 2019

स्थापना दिवस : मार्गशीर्ष शुक्लपञ्चमी, वि.सं. 2076, वर्ष 01 दिसम्बर, 2019 ई. के अवसर पर प्रकाशित।

श्री द्वारका



शारदापीठम्

प्रेषक : सचिव,
पू. पाद जगद्गुरु शंकराचार्य महाराज

द्वारका - ३६१ ३३५ गुजरात भारत
दूरभाष : (०२८९२) २३४०६४, २३५१०९ फॅक्स : २३४४५७

संदर्भ :

दिनांक : 31/03/19
स्थान : द्वारका

शुभाशंसा

स्वस्तिश्री गङ्गेश्वर पाण्डेय जी
श्रीनाथ संस्कृत अनुस्नातक महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

परम पूज्य द्विपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी महाराज
का मङ्गलात्मक नारायण आशीर्वाद

आपका पत्र पाकर ज्ञात हुआ कि आपका संस्कृत महाविद्यालय ज्योतिः नाम्नी शोधपत्रिका का विशिष्ट अंक प्रकाशित कर रहा है। पत्रिका के अनेक विद्याओं में शोधपत्रिका का महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामय स्थान है, क्योंकि उच्चशिक्षा जगत् और यू.जी.सी. आदि प्रतिष्ठित संस्थाओं को एवंविध एकेडमिक कार्यों से अनेक प्रकार की स्तरीय अपेक्षा रहती है, जैसे–चिन्तन, लेखन शैली, प्रसंगानुरुप लेखों, शब्दों का चयन, वर्तनीगत शुद्धि, विषय की मौलिकता और उसका प्रतिपादन, सम्पादन, पत्रिका का आकार-प्रकार एवं साजसज्जा प्रभृति।

विचारणीय है कि संस्कृत महाविद्यालय से प्रकाशित होने के कारण निश्चयेन ज्योतिः में सनातन वैदिक धर्म एवं सनातन वैदिक परम्परा के सिद्धान्तों का अनुपालन किया जायेगा और सम्पादक मण्डल अपने दायित्व का पूर्णतया निर्वाह भी करेगा, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है।

हम इसी आशय से परम पूज्य जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी महाराज की ओर से ज्योतिः के सफल प्रकाशन और उद्देश्य की सिद्धि को लक्ष्य में रख कर आप सभी को आशीर्वाद प्रेषित कर रहे हैं।

पूज्य जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी महाराज की आज्ञा से–

(नारायणानंद ब्रह्मचारी)
श्रीशारदापीठम् - द्वारका

प्रो. राजारामशुक्लः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी - 221002

Prof. Rajaram Shukla
Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221002

नैक द्वारा 'ए' ग्रेड प्राप्त

पत्राङ्कः / Ref. V.C. 1537/128/2019

दिनाङ्कः / Date 19/10/2019



शुभाशंसा

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हो रही है कि विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय, हाटा, कुशीनगर अपनी वार्षिक पत्रिका 'ज्योति' का प्रकाशन करने जा रहा है। इस स्तुत्य कार्य के लिए सम्पूर्ण विद्यालय परिवार को बधाई देता हूँ।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि उक्त पत्रिका अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

'ज्योति' पत्रिका की सफलता हेतु मेरी कोटि-कोटि शुभकामनायें हैं।

राजाराम शुक्ल 19.10.'19
(प्रो. राजाराम शुक्ल)
कुलपति

दूरभाष (Phone) : कार्यालय (Off.) 0542-2204089 ❖ निवास (Resi.) : 0542-2204213, 2206617
फैक्स (Phone) : 0542-2204089 ❖ ● : ssvv.ac.in ❖ ई-मेल (E-mail) : vc.ssvv@gmail.com, rrsvns@gmail.com

सम्पादकीय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सम्बद्ध एवं **नैक (राष्ट्रीय प्रत्यायन एवं मूल्याङ्कन परिषद्)** द्वारा मूल्याङ्कित **श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय, हाटा-कुशीनगर (उ.प्र.)** द्वारा **'ज्योति'** नामक शोध पत्रिका के प्रकाशन पर अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। यों तो अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ शैक्षणिक विकास के लिये महाविद्यालय द्वारा अनेक आयोजन किये जाते हैं, जिसमें राष्ट्रीय गोष्ठियाँ, व्याख्यानमाला, कार्यशाला के आयोजनों के माध्यम से अनेक विषयों के सम्बन्ध में व्यवहारिक ज्ञान से परिचित कराया जाता है, जिससे छात्रों के बौद्धिक विकास एवं शिक्षकों की विषयगत दक्षता परिलक्षित होती है। इसके साथ ही शोध एवं लेखन की मनोवृत्ति के सम्वर्द्धन हेतु महाविद्यालय में सुव्यवस्थित पुस्तकालय के माध्यम से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को उपलब्ध कराने के साथ ही साथ महाविद्यालय स्तर पर पत्रिका का प्रकाशन होता रहा है।

भारत हमेशा से व्यक्तिनिष्ठ के स्थान पर समष्टिनिष्ठ विचारधाराओं का पोषक रहा है। हम सदा **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** के नीति का अनुसरण करते हुए **''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥''** के सिद्धान्त पर चलते हुए वैश्विक स्तर पर विश्व-बन्धुत्व की भावना से समाहित रहा है। भारत न तो कभी आक्रान्ता रहा, न ही आतंकवाद का पोषक रहा है। आज जब सम्पूर्ण विश्व आतंकवाद के विभीषिका से जल रहा है और अनेक विनाशक आविष्कारों के बारूद पर खड़ा है, तब भारत का सिद्धान्त और महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि — **एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वम्-स्वम् चरित्रम् शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवाः॥**

वर्तमान परिस्थितियों में जब अध्ययन, लेखन व शोध के क्षेत्र में प्रतिदिन नूतनोन्वेषण हो रहे हैं; ऐसी परिस्थितियों में शोधपरक लेखों के लिए छात्रों, शिक्षकों एवं शोध-अध्येताओं को सर्वसुलभ शोध-पत्रिका का महत्त्व देखते हुए **''ज्योति''** शोध-पत्रिका का प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस क्रम में हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी तीनों भाषाओं में शोध-पत्रों का प्रकाशन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें हिन्दी के गूढ़ रहस्यों, देववाणी संस्कृत में विद्यमान वैज्ञानिक ज्ञान-विज्ञान एवं अंग्रेजी भाषा के अन्तर्गत सारगर्भित विचारों से सम्बन्धित शोधपत्र निश्चित रूप से समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे और नव-अध्येता अपने शोध क्षेत्र से सम्बन्धित विषय का उद्घाटन इस शोध-पत्रिका के माध्यम से करेंगे, जिसका लाभ समाज को प्राप्त होगा।

आज जब सम्पूर्ण विश्व वैश्विक ताप, पर्यावरण प्रदूषण, आतंकवाद, बढ़ती जनसंख्या विस्फोट, नारी सुरक्षा एवं सशक्तिकरण, भ्रूण हत्या जैसी जटिल समस्याओं की गुत्थी सुलझाने में लगा हुआ है, ऐसी परिस्थितियों में भारत वर्ष की प्राचीन मान्यताएँ **''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता''** समाज को आलोक प्रदान करता है।

शोध-पत्रिका के प्रकाशन में आदरणीय **प्रो. रमेश कुमार द्विवेदी** विभागाध्यक्ष-बौद्धदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.), **प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी** (राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त) पूर्व निदेशक-द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी, द्वारिका (गुजरात) के निर्देशन में शोध-पत्रिका में उत्कृष्ट एवं सारगर्भित शोधपत्रों के प्रकाशन में काफ़ी सहूलियत मिली है, इसके अतिरिक्त महाविद्यालय प्रबन्ध-समिति के प्रबन्धक **श्री अग्निवेश मणि**, अध्यक्ष **श्री जयप्रकाश पाण्डेय** एवं मन्त्री **श्री गंगेश्वर पाण्डेय** के उत्साहवर्धन एवं संरक्षण से भी शोध-पत्रिका का प्रकाशन अत्यधिक सरल हो सका है। मैं अपने सहयोगी शिक्षक बन्धुओं, सम्पादक मण्डल सहित समस्त शुभेच्छुजनों के मंगल कामना करते हुए यह विश्वास करता हूँ कि पत्रिका अपने उद्देश्यों में सफल होगी और पाठकगण अपना बहुमूल्य सुझाव देकर पत्रिका को उत्कृष्ट बनानें में सम्पादक मण्डल का सहयोग करेंगे।

दिनाङ्क 1 दिसम्बर, 2019
मार्गशीर्ष, शुक्लपक्ष पञ्चमी
तदनुसार 1 दिसम्बर, 2019

सम्पादक
डॉ. राजेश कुमार चतुर्वेदी
प्राचार्य

प्रबन्ध सम्पादक की लेखनी से.....

श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय हाटा की स्थापना सन् १९२४ में श्री परमहंस बाबा राघवदास तथा सत्यव्रत जी ने करमहा कुटी पर किया था। उस समय उस पुण्य कार्य में वहाँ की जनता ने काफी सहयोग दिया। स्थापना के अनन्तर कई मास तक पाठशाला के संचालन का समस्त प्रबन्ध बाबा जी को ही करना पड़ा। अध्यापक का वेतन तथा पाठशाला का अन्य व्यय तो उन्हें देना ही पड़ा साथ ही पाठशाला में पढ़ने एवं परीक्षा में सम्मिलित होने के लिये उन्हें अपने आश्रम (श्री परमहंसाश्रम, बरहज) से विद्यार्थी तक भेजने पड़े। इस भाँति श्री परमहंस जी ही इस महाविद्यालय के संस्थापक हैं।

करमहा कुटी के महंत श्री बाबा महावीरनाथ जी की देख-रेख में कुछ दिन इस पाठशाला का संचालन होता रहा। किन्तु इस अवधि में उसने कोई विशेष उन्नति नहीं की। अंत में सन् १९२९ ई. में यह पाठशाला हाटा में लाई गई और उसके संचालन का भार एक प्रबन्ध-कारिणी कमेटी के हाथों में सौंपा गया। सन् १९३० ई. के आरंभ में उक्त कमेटी ने डॉ. जंगबहादुर लालजी, सेठ गुलाब राय जी एवं पंडित भागीरथी मणि जी के विशेष सहयोग से पाठशाला के हेतु एक छोटा भवन निर्माण करा लिया। यह भवन पचीस-तीस विद्यार्थियों के लिये पर्याप्त था।

दो तीन वर्ष तक पाठशाले का कार्य साधारण गति से चलता रहा। किन्तु सन् १९३३ ई. के आरम्भ में प्रबन्ध कारिणी कमेटी का ध्यान विद्यार्थियों की शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उसी वर्ष कमेटी ने एक अत्यन्त योग्य एवं त्यागी, शास्त्री और विशारद उत्तीर्ण पंडित दिलीप नारायण मणि को पाठशाला का प्रधान अध्यापक नियुक्त किया। शास्त्री जी के आते ही पाठशाले में नवीन स्फूर्ति आ गई। पढ़ाई लिखाई की दशा सुधरने के साथ ही विद्यार्थियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी ठोस कार्य होते देख डिस्ट्रिक बोर्ड ने उसी वर्ष से सहायता (एड) देना आरंभ कर दिया। पाठशाले के पठन पाठन और सुप्रबन्ध से सन्तुष्ट होकर आस-पास के प्रायः सभी प्रतिष्ठित और विद्या प्रेमी रईस इसके संचालन कार्य में योगदान देने लगे। इन रईसों के सहयोग से सन् १९३३ ई. के दिसम्बर मास में पाठशाले का पारितोषिक वितरणोत्सव होबर्ट महोदय आई.सी.एस. कमिश्नर, गोरखपुर डिविजन के सभापतित्व में बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। होबर्ट महोदय जैसे महान विद्या प्रेमी और उच्चपदाधिकारी के हाथ लगते ही पाठशाला के प्रति सरकारी कर्मचारियों की सहानुभूति में भी वृद्धि हो गई।

सन् १९३४ ई. के दिसम्बर मास में श्रीयुत् लाला देवीदास जी, मैनेजर बैतालपुर शुगर मिल्स की उदारता से कमिश्नर साहब ने एक सौ रुपया की पुस्तकें पाठशाले की विविध परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को वितरित की। उसी उत्सव में लाला जी ने पाठशाला को साठ रुपया वार्षिक सहायता अपनी मिल से देने की घोषणा की, किन्तु उदार हृदय लालाजी ने सहायता भेजते समय साठ रुपये से बढ़ाकर सौ रुपया वार्षिक कर दी।

उधर विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हो जाने से पाठशाला भवन में स्थान की कमी खटकने लगी। पाठशालें की सुव्यवस्था और संतोषजनक शिक्षा-दीक्षा देखकर संस्कृत विभाग के इन्स्पेक्टर महोदय ने अपने निरीक्षण में यह प्रस्ताव किया कि ढाढ़ा पाठशाला, जो उस समय गर्वनमेंट से २८/- रु. मासिक सहायता (एड) पा रही थी। उसे हाटा पाठशाला में मिला दिया जाये। उधर सिरसिया पाठशाला की प्रबन्ध कारिणी समिति ने अपनी पाठशाला हाटा पाठशाला को मिला दी। जिसके कारण पाठशाला के भवन में वृद्धि होना अनिवार्य सा हो गया। इन्स्पेक्टर महोदय ने पाठशाला में स्थान वृद्धि करने की बात का उल्लेख अपनी रिपोर्ट में किया। यह रिपोर्ट जब कमेटी के सम्मुख पेश की गई, तो पैकोली के रईस बाबू रामनरेश जी शाही ने उदारतापूर्वक इस कार्य के हेतु तत्काल ५०/-रु. की सहायता दी। उधर मुख्तार-पार्टी ने भी इस पुण्य कार्य में पूरा सहयोग देने का दृढ़ निश्चय कर लिया। २० फरवरी सन् १९३५ ई. को स्थानीय सेठ गुलाब राय जी के कनिष्ठ भ्राता कलकत्ता निवासी बाबू सागर मल जी नाथानी का हाटा में आगमन हुआ और उन्होंने पाठशाला के भवन निर्माण के लिए २१००/- प्रदान किया और पाठशाला भवन के निर्माण कराने का कार्यभार पाठशाला के अनन्य प्रेमी और शुभचिंतक बाबू बिकाऊलाल जी मुख्तार अदालत हाटा को सौपा गया, और उक्त बाबू साहब ने इस कार्य को तीन से चार मास ही में, बड़ी लगन और परिश्रम से समाप्त कर दिया। इस विशाल भवन का उद्घाटन अगस्त सन् १९३५ के आरंभ में उक्त कमिश्नर महोदय के कर-कमलों द्वारा ही कराया गया। तथा उसी समय कुछ महानुभावों ने अत्यन्त सहयोग दिया। उन महानुभावों में ठाकुर जंगबहादुर लाल जी, बाबू शत्रुघ्न प्रसाद सिंह जी (खुट्ठा), बाबू बिकाऊलाल जी, बाबू नवाब सिंह जी (रामपुर सोहरौना), पं. रामचन्द्र मणि जी, शाह मुईनद्दीन साहब, बाबू कुंवर बहादुर लालजी, बाबू सीताराम जी, ठाकुर नर्वदेश्वर सिंह जी, पं. जगदेव मणि जी, पं. भागवतशरण उपाध्यायजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सम्प्रति संस्कृत पाठशाला से श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय के स्वरूप में अवस्थित इस संस्था के विकास में अपने अध्यक्षीय कार्यकाल स्व. श्री नर्वदा दूबे एवं सन् १८८० से लेकर २००४ तक प्रबन्धक के रूप में स्व. श्री सुरेश मणि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

पूर्वांचल में संस्कृत शिक्षा तथा अन्य सहगामी क्रिया-कलाप के क्षेत्र में यह महाविद्यालय अपना विशेष स्थान रखता है। सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में नैक (राष्ट्रीय प्रत्यायन एवं मूल्यांकन परिषद्) द्वारा मूल्यांकन कराने के क्षेत्र में यह महाविद्यालय प्रथम स्थान पर रहा है। इस महाविद्यालय का नैक मूल्यांकन १७ सितम्बर २०१७ को सम्पन्न हुआ। यहाँ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली से प्रायोजित गाँधी अध्ययन केन्द्र, अम्बेडकर अध्ययन केन्द्र का संचालन तथा अनेक संगोष्ठियों का आयोजन होता रहा है। महाविद्यालय में व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य बौद्धदर्शन, पुराणेतिहास, तुलनात्मकदर्शन, सांख्ययोग, आगम, वेद एवं वेदान्त की आचार्य पर्यन्त मान्यता है। महाविद्यालय लगभग १०० छात्रों का नि:शुल्क भोजन और छात्रावास का प्रबन्ध अपने निजी संसाधन से कर रहा है। हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ कि महाविद्यालय में विश्वविद्यालय

अनुदान आयोग के वित्तीय सहयोग से ६५×३५ फीट का सुव्यवस्थित सभाकक्ष (हाल), सुव्यवस्थित पुस्तकालय, योग कक्ष, महिला छात्रावास, छात्रों के स्वास्थ्य सिद्धि के लिये व्यायामशाला (जिम) उपलब्ध है। महाविद्यालय के शिक्षक, छात्र व प्रबन्ध समिति निरंतर विद्यालय हित के लिये प्रयासरत है, यह अत्यन्त सुखद है। मैं प्रबन्ध समिति के मंत्री और इस शोध पत्रिका का प्रबन्ध सम्पादक हूँ। मेरी शक्ति, सामर्थ्य और क्षमता विद्यालय के विकास में लगी रहे, इससे बड़ा मेरा सौभाग्य नहीं हो सकता है। पत्रिका के सम्पादन में लगे हुये संपादन मण्डल, प्राचार्य, अध्यापक का आभारी हूँ। द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी के पूर्व निदेशक एवं राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी और महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा, नागपुर (महाराष्ट्र) के सम्मानित कुलपति प्रो. रजनीश शुक्ल जी, का विशेष ऋणी हूँ, जो समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव देकर पत्रिका को महत्त्वपूर्ण बनाये है। अन्त में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के बौद्ध दर्शन विभागाध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार द्विवेदी का विशेष धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने पत्रिका प्रकाशन के प्रधान संपादक के रूप में प्रूफरीडिंग का दायित्व निभाकर संस्था को उपकृत किया है।

आशा है यह पत्रिका आज की सामाजिक एवं शैक्षिक गतिविधियों को दूर-दूर तक पहुँचाने का काम करेगी।

प्रबन्ध सम्पादक

गंगेश्वर पाण्डेय

(मन्त्री)

अनुक्रमणिका



पाणिनीयव्याकरणे वर्णव्यवहारमीमांसा

महामहोपाध्याय आचार्य जयप्रकाशनारायणद्विवेदी
पूर्व निदेशक
द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी
द्वारका, गुजरात

पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे या वर्णव्यवस्था वैदिककाले आसीत्, सैव वर्णव्यवस्था पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे कतिपयप्रयोगचिन्तनेनाऽवलोक्यते। भारतीयसंस्कृतेराधारतत्त्वेषु वर्णाश्रमव्यवस्थायां विद्यते महत्त्वपूर्णं स्थानम्। विश्वस्मिन् कस्मिन्नपि देशे नैतादृशी प्राचीनाऽपि चिरनवीना व्यवस्था सुव्यवस्था व्यवतिष्ठते। इयं व्यवस्था वैदिककालेऽपि सम्यक्तया दृश्यते। यथा—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहुराजन्यः कृतः।
उरुतदस्ययंद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत[१]।।

वेदस्य पुरुषसूक्ते भगवतो विराट्पुरुषस्य परब्रह्मणो वा ब्राह्मणस्य मुखरूपेण, क्षत्रियस्य भुजरूपेण, वैश्वस्य उरुरूपेण, शूद्रस्य पादरूपेण च वर्णनं विद्यते।

वैदिककालपर्यालोचनेन प्रतीयते यत् तत्कालीनेयं व्यवस्था कठिना नासीत्, किन्तु पुराणकाले तदपेक्षया काठिन्यं सञ्जातमितिमतमितिहासविदाम्, भगवता श्रीकृष्णेन चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाया भगवत्कृतत्वं प्रतिपादयता गुणकर्मणां नियामकता तत्र प्रतिपादिता—

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि[२]।।
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्[३]।।

अनयारीत्या चतुर्धा विभक्तः समाजः सहजतया सारल्येन च सरति संसारसरणौ। तत्र परस्परसंघर्षस्य वर्गभेदस्य नीचादिदृष्टे वा नास्त्यवकाशः। यथा हि पुरुषदेहे परस्परानु-स्यूतानामङ्गानां मध्येऽपि तारतम्यं भवत्येव, तथैव समाजघटकेषु तत्त्वेषु परिकल्पनासौ विहिता मान्यैः मनीषिभिः भगवता च।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नस्य सन्मार्गसञ्चालकस्य ब्राह्मणस्य मुखस्थानता, रक्षणतत्परस्य क्षत्रियस्य भुजस्थानता, समागतस्याऽऽहारस्य पाकपूर्वकं समुचितरीत्याऽङ्गेषु विभागकर्तुर्वैश्यवर्गस्य उरुस्थानता, परिचर्या प्रवीणस्य सर्वाधारस्य शूद्रस्य च पादस्थानता समुचिता युक्तियुक्ता वैज्ञानिकी च विभाति।

महाभाष्यकारः पतञ्जलिरपि वर्णव्यवस्थां सम्मानयन् लिखति, यद् पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः[४], इत्थमत्राऽपि वर्णव्यवस्था विभाति।

भारतीयेतिहासेऽनेकेषां पवित्राणां चरित्राणां तानि निदर्शनानि सन्ति, यानि व्यवस्था अस्य महत्त्वं समुद्घोषयन्ति।

यथा—वशिष्ठकपिलकणादाद्याचार्य्याः सर्वथा लोकोत्तरा ब्राह्मणाः, यैः स्वीयज्ञानविभवादिभिर्विभासितं विश्वमखिलम्। श्रीरामचन्द्रगुप्तमहाराजप्रतापादयो विद्योतन्ते ते क्षत्रिया ये प्रजारक्षणपरायणा स्वाभिधानं सार्थकं तन्वन्ति। भामाशाह-प्रभृतीनां वैश्यवर्णानां विश्रुतान्येव चरितानि, यैर्यावज्जीवं पितृपरम्परया च समुपार्जितस्य द्रव्यस्य विनियोगः प्रजारक्षणार्थं स्वयमेव विहितः। शूद्राणामपि सन्ति, तानि विविधानि निदर्शनानि, यैः स्वानुरूपकर्माचरणं विदधद्भिः परमपुरुषता अधिगताः।

अत्राऽयं हेतुर्यद्, यथा भूपतिः स्वानुरूपे कर्मणि कर्मचारिणं नियुङ्क्ते, तर्हि भूपतिः प्रीतमनाः तस्मै तदभीष्टा

सिद्धिं प्रदाय तं कृतकृत्यं करोति। एवमेव परमपुरुषकृते विभागेऽस्मिन् स्वानुरूपकार्यवितानं वितन्वते जनाय श्रेयोदानं प्रदिशति, सः सृष्टिसञ्चालकः। यथोक्तं गीतायाम्—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः[५]।।

तथैव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रेऽपि नैके प्रयोगा दृश्यन्ते, यद् वैदिकीया, पुराणकालीया, वार्तमानिकी वर्णव्यवस्था श्रेष्ठा प्रेष्ठा च, तस्य एव वर्णव्यवस्थाया उल्लेख पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे विद्यते। यथा—

ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्रा = । वर्णानामानुपूर्व्येण[६]।

अत्रोदाहरणे चतुर्णां वर्णानां समावेशो वर्तते, यद् ब्राह्मणः, क्षत्रियः, विद्, शूद्रः, एत आनुपूर्विकास्सन्ति, तर्हि एव सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवति। यथा—अस्मिन् शरीरे न हि कोऽपि अवयवोऽनुपयोगौ वा नास्ति, किन्तु यथा शरीरे पादस्थितां सर्वेऽवयवाः स्थातुं सामर्थ्यवन्तो जायन्ते, तथैव निम्नवर्गादृते उच्चवर्णानां हेयतां नीचतां वा वदन्ति, ते वस्तुतो भारतीयसामाजिकव्यवस्थाया विनाशका एव। अतः शरीरे सर्वेषामवयवानां महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति, तथैव सर्वेषां वर्णानां समाजेऽस्मिन् महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते, इत्थं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे प्रदत्तः प्रयोगः समुद्घटते यद् ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः।

संसारेऽस्मिन् वर्णव्यवस्थैव न स्यात्, तर्हि सूत्राणां कोऽर्थः, कुत्र प्रवृत्तिर्भवति, इति सन्देहमाने मनसि सति पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं कथयति यद् लोकत्वात्, यल्लोके तदेव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे, यत्पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रे तदेव लोके, इत्थं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वं भवति।

विट्छूद्राः। जातिरप्राणिनाम्[७]।
चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यान्[८]।
भो राजन्यविशां वेति वाच्यम्[९]।
क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम्।
अव्ययीभावे चाकाले[१०]।
विप्राय गां ददाति। चतुर्थी सम्प्रदाने[११]।

“विशेषेण प्रीणाति वपतीति विप्रः” प्रीञ्—कान्तौ तर्पणे च[१२], डुवप्—बीजसन्ताने[१३], बीजसन्तानं क्षेत्रे विकिरण गर्भाधानं च। असारेऽस्मिन् संसारे सारभूतानि यानि तत्त्वानि सतां संस्पृहणीयानि सन्ति, तेषु दानस्य महिमा अनिर्वचनीय एव। गुणग्रामेषु तारकानिचयेषु दानस्य प्राधान्यं पश्यन्ति विद्वांसः, यतोऽस्मात् कीर्तिकौमुदीकुवलयवलयमिव विकासयति कुवलयम्। कस्याऽपि स्वीयस्य पदार्थस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपुरस्सरं परस्वत्वस्थापनपूर्वकं प्रदानं दानमिति कथ्यते।

परिवर्तनसारे संसारेऽस्मिन् द्रव्यं सर्वतोऽधिकं परिवर्तनशीलम्, यतो हि पद्मसहभूकण्टकेन अधिष्ठित-चरणेव पद्मवल्लभा नैकत्र सन्तिष्ठते, अत एव अस्याः “चञ्चला” इति नाम प्रसिद्धमेव। अतो विचारवन्तः परदुःखमसहन्तः स्वात्मानन्दे रमन्तः संग्रहसदृशं सुखं त्यागेऽनुभवन्तः, पीडाजालं परिहरन्तः सन्तः चञ्चलया श्रिया निश्चलं यशोऽभिलषन्तो मुक्तहस्तं वितरन्ति ताम्।

ये सर्वश्रेष्ठा मानवाः, ते द्रव्यस्योपयोगं परस्मै जनायैव कुर्वन्ति, मध्यमाश्चमनुजाः स्वस्मै सुखाय द्रव्यविनियोगं विदधति, किन्तु ये लोभाग्रस्ता जना न परस्मै वा तदुपयोगं कुर्वन्ति, तेषां धनं स्वयमेव विनाशं प्रतिगच्छति। अतस्तेषां कृते धनं दुःखदमेव जायते। एतामेव वस्तुस्थितिं विचार्य कविरविणा श्रीभर्तृहरिणा नीतिशतके सम्यगेवोक्तम्—

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति[१४]।।

पद्यस्याऽर्थो भवति यद्, वित्तस्य धनस्य तिस्रो गतयो भवन्ति। दानं, भोगः, नाशः। यः पुरुषः कस्मैश्चिदपि जनाय न ददाति वा स्वयं वित्तं न भुङ्क्ते, तस्य पुरुषस्य यद् धनं, तस्य तृतीया गतिर्नाम नाशो भवति।

अतएव च दानभोगरहितायाः सम्पदो वैयर्थ्यं प्रतिपादयता केनचित् कविना तस्याः सम्पत्तेरसम्पत्तित्वं युक्तमेवाभिहितम्—

दानोपभोगरहिता या सुहृद्भिर्न भुज्यते।
पुंसां यदि सा लक्ष्मीरलक्ष्मीः कतमा भवेत्[१५]।।

पद्यस्याऽस्य सारो भवति यद् दानोपभोगरहिता लक्ष्मीः, लक्ष्मीः कथं भवितुमर्हति।

अस्माकीने प्राचीने चेतिहासे बहूनां दातॄणां नामानि प्रसिद्धानि। नीतिमार्गनिपुणेन कुलगुरुणा श्रीशुक्राचार्येण बारम्बारं प्रतिषिद्धमानोऽपि महाराजो बलिः कपटबटवे पटवे श्रीविष्णवे सर्वस्वं समर्प्य, विश्वविश्रुतं यशो लेभे। महर्षिणा दधीचिना स्वीयान्यस्थीनि देवेभ्यो प्रदाय दानिशेखरता समवाप्ता। शरणागतवत्सलं शिबिं को वा न जानाति? येन स्वाङ्कागतस्य कपोतस्य रक्षार्थं श्येनरूपधारिणे सहस्राक्षाय स्वमासं स्वहस्तेनैव भगवतो लोकाभिरामस्य श्रीरामस्य दानं तु प्रसिद्धमेव, यदेकदा तनो गृहीत्वा धनं पुनर्भिक्षये नास्ति, कस्मादन्यस्माद् ब्रह्मणस्य काऽप्यपेक्षा। यथोक्तं केनचित् कविना—

द्विर्ददाति न चाऽर्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते।

वाल्यकालमित्राय सतीर्थ्याय दारिद्रवते सुदाम्ने स्वसमं दारिद्रदारिद्र्यं दिशन् द्वारिकानाथो न विस्मर्तुं शक्यते, कथमपि महाभारतीया कर्णस्य दानकथा प्रसिद्धा, येन स्वजनकस्य भुवनभास्करस्य प्रतिषेधं समुपेक्ष्य, स्वप्रबलतमशत्रोरर्जुनस्य पित्रे द्विजरूपाय देवराजाय जन्मजातं मरणशरणं वर्मं प्र ादत्तम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् जीमूतवाहनस्य कथमपि कथा नोपेक्षणीया वर्तते, सर्परक्षणरतायां गरुडाय शङ्खचूडाख्यसर्पस्थाने स्वीयं शरीरं प्रदाय प्राप्ता कीर्तिरक्षुण्णा। एवं विधानि विविधानि कथानकानि दृश्यन्ते, यानि पठित्वा जनो जानाति त्यागस्य माहात्म्यम्।

इत्थं दानस्य महत्त्वं प्रतिपादयत् पाणिनीय-व्याकरणशास्त्र प्रयोगमिमं समुद्धरति यत् "विप्राय गां ददाति" अत्र कोऽपि दानकर्मा दानौ विप्राय गां ददाति, वर्तमानेऽपि समाजे यद् दानस्य महत्त्वं, तदेव महत्त्वं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वर्तते, कथं यद् दाने विहिते द्रव्यस्य न्यूनता भवितेति विचारो न कर्त्तव्यः, यतो हि यथा मानवैः, विहङ्गैः, पशुभिश्च पीनमानं सरोवरस्य वारि न क्षीयते, तथैव दीयमाने द्रव्ये न मनागपि न्यूनता भवितुं शक्यते, यतः परमपिता प्रसन्नः पूरयत्यैव सदा तत्। अतो विधातुः प्रातिकूल्ये, आनुकूल्ये च सर्वथा देयमेवति कश्चित् कविः सयुक्तिकं कथयति यद्—

अनुकूले विधौ देयं यत् पूरयिता हरिः।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति[१६]।।

मनुजानां कृते सर्वास्वस्थासु देयमिति शासन्ती भगवती श्रुतिरपि "ह्रिया देयम्, भिया देयम्" इत्यादि घोषयति। उपनिषत्सु "ददद" इति रूपेण दकारत्रयो-पदेशस्य कथा परमप्रसिद्धैव, यस्यां दकारेण दानग्रहणे दानस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं वदति। आकाशविहारिणो द्विजराजस्य सर्वाः कलाः कालक्रमेण क्षीयन्ते, किन्तु या तन्वी कला तेन भगवते शम्भवे प्रदत्ता, सैव सर्वदा संस्थिता दानगौरव गायति। एवमेव यद् वित्तं परस्मै प्रदीयते, तदेव ऐहिकपारलौकिक-सुखसाधनत्वात् तिष्ठति। अन्यत्तु सर्वं नश्यत्येव। एकेन कविना दानस्य महिमा गीयते यद्—

न परं सैव विनश्यति तनूरपि या श्रीर्निवेशिता सत्सु।
अवशिष्यते हिमांशोः सैव कला या स्थिता शम्भो[१७]।।

अतएव दानस्य सेविते सति न काऽपि हानिर्भवति, अतः सर्वदा दानस्य चेष्टा विधातव्या, समागते यस्मिन्नास्ति कस्याऽप्यन्यस्य गुणस्यावश्यकता। यतो हि दानमहिम्नैव पशुजातिरपि कामधेनुः, वृक्षोऽपि कल्पवृक्षः, पाषाणोऽपि चिन्तामणिः लोकपूज्यैः देवैरपि वन्द्यते।

दानेन श्लाघ्यतां यान्ति पशुपाषाणपादपाः।
दानमेव गुणः श्लाघ्यः किमन्यैर्गुणकोटिभिः[१८]।।

इत्थं दानमहत्त्वं हृदि निधाय पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रमपि गायति यद् दानकर्मणा यमभिप्रैति स: सम्प्रदानसंज्ञको भवति, दानकर्मणि सति विप्रशब्दस्य सम्प्रदानसंज्ञा भवति, सम्प्रदानन्नाम सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै इति सम्प्रदानम्। सम्प्रदानस्य विविधानर्थान् स्मारं स्मारं कतिपयै:, श्लोकै: सम्प्रदानकर्माणं स्तौति तावद्—

दाधातो: कर्मणा यस्य सम्बन्ध क्रियते यदा।
तदा तत्सम्प्रदानं स्याच्चतुर्थी तत्र जायते।।१।।
सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानमुच्यते।
अन्वर्थेयमस्ति संज्ञा वृत्तिकारादिरुक्तवान्।।२।।
रजकस्य वस्त्रदाने सम्प्रदानं न विद्यते।
ध्वनत: पृष्ठं ददात्यादौ चतुर्थी नाऽभवत् तत:।।३।।
भाक्तो ददाति यत्रास्ति सम्प्रदानं न तत्र स्यात्।
स्वस्वत्वञ्च निवर्त्यैव परस्वत्वप्रयोजकम्।।४।।
अपुनर्ग्रहणं दानं रजकादौ न तादृशम्।
पुण्यस्य जनकं यत्र दानं तत्सम्प्रदानकम्।।५।।
चतुर्थी सम्प्रदानत्वाद् वृत्तिकारमतं स्फुटम्।
भाष्यकारमते चेयमन्वर्थी संज्ञा न हि।।६।।
दाधातो कर्मणा यं हि अधिप्रैति तदर्थकात्।
तस्मादेव हि शिष्याय चपेटां प्राददाद् गुरु:।।७।।
न शूद्राय भूर्तिं दद्याद् भृत्याय वेतनं ददौ।
दासाय भोजनं प्रादादित्यादिवाक्यमुच्यते।।८।।
अस्मिन् मते तु प्राप्नोति रजकाय वस्त्रं ददौ।
किन्तु शेषत्वविवक्षायां षष्ठीभाष्यमतेऽपि स्यात्।।९।।
एतादृशप्रयोगेषु शेषत्वस्य विवक्षया।
षष्ठयेव कर्तुमुचिता नटस्य श्रृणुते यथा।।१०।।
ददाति वस्त्रं रजकस्य परिष्कार्यत्वमादि च।
सम्बन्धो वस्त्रभूषादावित्येवं ज्ञायतां रह:[१९]।।११।।

इत्थं पूर्वापरं विचार्य पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं कस्य सम्प्रदानता इति चेत्? तर्हि कथयति यद्—

अनिराकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्।
प्रेरणानुमतिभ्याञ्च लभते सम्प्रदानताम्।।१।।
ददात्यर्घ्यं स सूर्याय अनिराकरणन्त्विह।
विप्राय गां ददात्यत्र प्रेरकत्वं विलोक्यते।
गुरवे गो ददात्यत्र अनुमन्तृत्वमत्र वै[२०]।।२।।

एतेषां श्लोकानां सारांशो भवति यद्—

धात्वर्थाऽवच्छेदकीभूतस्वत्वाख्याफलवत्तया।
धनादेर्दानकर्मत्वं विप्रादे: सम्प्रदानता[२१]।।

यत्क्रियाकरणीभूतेन यत्क्रियाकर्मणा यं सम्बन्धी कर्तारमभिप्रैति तत्क्रिया तत्क्रियाजनकेच्छान्यतर-फलभातित्वेनोद्देश्यीकरोति कर्ता स सम्प्रदानमिति रहस्यम्। लोकं प्रचलितेकोक्तिरपि कथयति यद्—

दानाय लक्ष्मी: सुकृताय विद्या
चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय।
परोपकाराय वचांसि यस्य
वन्द्यस्त्रिलोकौ तिलक: स एक:[२२]।।

त्रिलोक्यां तिलको भूषणभूत: स एवास्ति यद् यस्य भूषणभूतस्य लक्ष्मीर्दानाय भवति, विद्या सुकृताय भवति, चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय भवति, परोपकाराय वचांसि सन्ति, स एव पुरुषो लोके वन्द्यो भवति। अत एव लोके दानमहत्त्वं प्रतिपादयत् पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं कथयति यद् विप्राय गां ददाति।

इत्थं दानस्य महत्त्वं लोकेऽस्ति, तदेव पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रे वर्तते, अत: पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यवहारित्वं सिद्ध्यति।

द्विजायाऽयं द्विजार्थ: सूप:, द्विजायेयं द्विजार्था यवागू:, द्विजायै तद् द्विजार्थं पय:। अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्[२३]।

नृणां-नृषु वा ब्राह्मण: श्रेष्ठ:। यतश्च निर्धारणम्[२४]।
नृणां द्विज: श्रेष्ठ:। न निर्धारणे[२५]।

ब्राह्मणा: पूज्या:। ब्राह्मण: पूज्य:। जात्याख्या-यामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्[२६]।

ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राण्युपचाराद् ब्राह्मणानि, तानि शंसतीति ब्राह्मणशंसी ऋत्विग्विशेष:। घरुपकल्प-चेलड्ब्रुवगोत्रमत हतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्व:[२७]।

कारव्यः पिता, कारव्यः पुत्रः।

ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनिलुगणिञोः[२८]।

वाणिजो भावः कर्म वा वाणिज्यम्।

दूतवणिग्भ्यां च[२९]।।

श्रीमद्भगवद्गीतायामपि श्रीकृष्णो वर्णधर्मानुसारं कर्मणां विभागमारभते। तद्यथा—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्[३०]।।

एतत्प्रकारेण चातुर्वर्ण्यस्य कर्मणां सङ्क्षेपेण वर्णनं विधाय निर्दिशति श्रीकृष्णः—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु[३१]।।

इत्याध्यात्मिकं कर्मणो रूपं विविच्य, सामान्य-दृष्ट्या कर्मणः किं स्वरूपमिति निरुप्यते—उद्यम एव कर्म, य उद्योगं करोति, सः स्वास्थ्यं लभते, परोपकाराय यतते, किन्तु यो निष्कर्मशीलो भवति, तं सर्वे अजगरादिशब्दस्तिरस्कुर्वन्ति। स्वकर्मनिरतामानवः कर्म-योगेन भाग्यमपि परिवर्तयितुं पारयति, इत्थं वैश्यस्य भावः कर्म वेति वाणिज्यम् रूपं निष्पद्यते, अत्र चेद् वणिक् कर्मरहितो भवति तदा प्रकृतवार्तिकसूत्रमपि न प्रवर्तते, इत्थं वर्णसम्बद्ध व्यावहारिकत्वं प्रतिपादयत् पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वं सङ्गच्छते।

श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रोत्रम्।

श्रोत्रियस्य यलोपश्च[३२]।

ब्रह्मत्वम्, ब्राह्मणपर्यायाद् ब्रह्मन्शब्दात्तु त्वतली, ब्रह्मत्वम्, ब्रह्मता। ब्रह्मणस्त्वः[३३]।

आयुधजीविनो ब्राह्मणाः,
यस्मिन्देशे स ब्राह्मणकः।

ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्[३४]।

ब्रह्मणजातीयः, ब्राह्मणजातिः शोभना।

जात्यान्ताच्छ बन्धुनि[३५]।

विष्णुमिवाचरति विष्णूयति द्विजम्।

उपमानादाचारे[३६]।

दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः।

कृत्यल्युटो बहुलम्[३७]।

अर्यः स्वामी वैश्यः, आर्यो ब्राह्मणः।

अर्यः स्वामिवैश्ययोः[३८]।

बिभ्रति पृथ्वीं भार्या नाम क्षत्रियाः।

भृञोऽसंज्ञायाम्[३९]।

वैश्यकुलादानीतो दक्षिणाग्निश्च।

आनाय्यो-ऽनित्ये[४०]।

क्षीरपा ब्राह्मणी।

पिबतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम्[४१]।

अजः, द्विजः, ब्राह्मणजः। अन्येष्वपि दृश्यते[४२]।

संशितो ब्राह्मणः (व्रतविषययत्नवानित्यर्थः)।

शाच्छोरन्यतरस्याम्[४३]।

तुला प्रग्राहेण चरित तुलाप्रग्राहेण। प्रे वणिजाम्[४४]।

समाजो ब्राह्मणानाम्, उदाजः क्षत्रियाणाम्।

समुदोरजः पशुषु[४५]।

प्रकृतोदाहरणेन फलति यत् पुरा युगेषु पुरुषेषु बहुविधा अनिर्वचनीयाः शक्तय आसन्। यथा मन्त्रशक्तिः, शापवर-दानयोः शक्तिः, सत्यतपस्तेजसां शक्तयः, पृथक्पृथग्रूपेण वर्णिताः शास्त्रेषु दृश्यनते, अतस्ते विभिन्नशक्तिसम्पन्ना उपकर्तुं वशीकर्तुं, दण्डयितुं वा सुतरां भवन्तिस्म समर्थाः। किन्त्वस्मिन् पापिनि कला सत्यतपतस्तेजसां चर्चा शास्त्रगह्वरेषु निभृता सुखेन सन्तिष्ठते, सा लोक उदाहरणार्थं क्वचित्कुत्रचिदांशिक-रूपेण सूक्ष्मेक्षिकया विलोकयितुं शक्यते। यत्र ताः शक्तयो दृश्यन्तेऽपि तत्र वास्तविकता तु नाममात्रिका भवति। आडम्बरस्य विशेषरूपेण दर्शनं जायते। अतः

समाजो न तत्र श्रद्दधाति। श्रद्धामन्तरा कथं जनस्तत्रानुरज्येत इत्यादिविषयजातं श्रावं श्रावं स्मारं स्मारं मनीषिभिरेषो निर्णयोऽकारि यत्कलौ यदि काऽपि शक्तिः सम्भवा चेत्, सा सङ्घात्मिकैव। सैव शक्तिर्वर्तमाने युगे समाजे भवेत्। सः समाजः क्षत्रिणाम्भवेत्, ब्राह्मणानां भवेत्, वैश्यानां भवेत् वा शूद्राणां भवेत्। सर्वेषां वर्णानां वा सर्वेषां समाजे सति, समूहे सति, एका शक्तिर्भवति। एकस्यां शक्तौ सत्यामेवास्माकं देशः स्वतन्त्रो जातः। इत्थमुदाहरणमिदं प्रेरयति यदेकात्मिकायाः शक्तेः प्रभुता भवति। अत्रैकं दृष्टान्तमिदं प्रस्तौति यत् कस्मिंश्चिद् स्थाने कस्यश्चिद् वृद्धस्य चत्वारः पुत्रा आसन्। ते सर्वदा परस्परं परस्परं विवदमाना न कस्यापि वचः स्वीकर्तुमुत्सहन्ते स्म। अथ कालक्रमेणे वृद्धस्य मरणाऽवसरः समायातः, तदा तेन चत्वारोऽपि स्वसुताः समाहूताः। यदा ते आगत्य उपविष्टाः तदा तान् साश्रुनेत्रः पिता गद्गदया गिरा कथञ्चिद् वक्तुमारेभे—श्रृणुत पुत्राः! अन्तिमं मद्वचः, तेऽपि सर्वे पितुः मरणकालिकी दशामवलोक्य विनीतभावेन प्रोचुः, किमाज्ञापयन्ति पितृचरणाः, कथयन्तु निःसङ्कोचम्। स उवाच—यूयं चत्वारः परस्परं शत्रुवद्व्यवहरन्तः कलहेन विवादेन च कालं यापयत्, नैतत् शोभनम्। अस्तु, मदाज्ञया एकमेकं काष्ठं सत्वरमानयत, श्रुत्वा च ते आनीतवन्तः। पुनर्वृद्ध उवाच—हे पुत्राः! काष्ठानि रज्वा बद्ध्वा क्रमेण त्रोटयत। तदा ते तानि काष्ठानि रज्वा तद्ध्वा त्रोटयितुं प्रवृत्ताः, तदा न कोऽपि साफल्यमवाप। तदा पुनरपि स उवाच पुत्राः! रज्जुं निःसार्यं प्रत्येकं काष्ठं पृथक पृथक त्रोटयत। तदा तैः सर्वाणि काष्ठानि त्रोटित्तानि। तदा वृद्धः तानुपदिष्टवान् एतेनाऽभिनयेन युष्माभिः का शिक्षा लब्धा? किन्तु ते तूष्णीं स्थिताः। तदवलोक्य स ब्रवीति—यथा बद्धं काष्ठसञ्चयं भङ्क्तुं यूयं न समर्था जाताः, पृथक्पृथक् काष्ठानि त्रोटयितुं समर्था अभवत्। तद्वदेव यदि यूयं भ्रातरः स्नेहरज्जुं बद्ध्या स्वास्यथ, तदा मदभावेऽपि युष्मान् त्रोटयितुमथ विनाशायितुन्न कोऽपि साहसं करिष्यति। इत्येव मदादेशः। इतः परं युष्माकं यादृशी इच्छा स्यात्, इति कथयन् स वृद्धः प्राणान् जहौ।

तद्दिनात्प्रभृति ते चत्वारोऽपि भ्रातरः स्निग्धव्यवहारमापन्नाः सर्वैः समाद्रिमाणाश्च सुखमतिष्ठन्। उक्तमपि यत्—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्टयते रज्जुर्येन नागोऽपि बद्ध्यते[४६]।

पश्यन्तु तृणानि, का शक्तिस्तेषां, यानि सर्वदा सर्वेषां पादैर्मृद्यमानानि न कदाचिदपि उन्नतिं कामयन्ते। तेषामपि समवायो मदोन्मत्तं गणराजं बद्धुं प्रभवति, एषा सङ्घटनस्यैव शक्तिः। इत्थं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमपि कथयति यद् सङ्घे या शक्तिर्भवति, सा शक्तिरन्यत्र भवितुमेव नार्हति। शक्तिं विना किञ्चिदपि सामुदायिकं कार्यं भवितुमेव नार्हति। प्राचीनतमस्येतिहासस्य पुनरावृत्तिं कुर्वन्तु भवन्त। श्रीरामचन्द्रः कपिसङ्घस्य साहाय्यमवाप्य लङ्केश्वरं जिगाय, किमधिकं कोशकारः शिरसोऽपरपर्यायत्वेन उत्तमाङ्गशब्दस्य निर्वचनं कृतमस्ति, कथं तदुत्तमाङ्गमितिविषये सुभाषितकारोक्तिं निरूपयति यद्—

बह्वीं प्रतिष्ठामाप्नोति पञ्चभिः सेवितो नरः।
उत्तमाङ्गं शिरः प्रोक्तं पञ्चेन्द्रियसमन्वितम्[४७]।।

पद्येऽस्मिन् "पञ्चभिः" इत्येषः शब्दो महन्महत्वमावहति। तद्यथा—कस्यामपि सभायामेकः सभापतिः, अपरे जनाः पञ्चेति कथ्यन्ते, तेषु जनताया धार्मिकी दृष्टिर्भवति, इमे यद् वक्ष्यन्ति, तद् हितावहं भवेदिति। धर्मकार्येषु अपि पञ्चदेवोपासना चिरात् प्रतिष्ठिता राजते। एषा सर्वत्र सङ्घटनात्मिकैव दृष्टिः। विशेषतः कलियुगे सङ्घे शक्तिभर्वतीत्येव डिण्डिमघोषो विराजते, तस्य स्वरूपमस्माकं सम्मुखीनमेवास्ति।

अद्यास्माकं भारते श्रीगान्धिप्रभृतीनां कृपया या स्वराज्यश्रीर्विलसति, सा नूनं सङ्घात्मिकायाः शक्तेरत्र

प्रभावं प्रकटयति। समये समये भारतेऽस्मिन् विदेशीयानां यानि यान्याक्रमणानि सञ्जातानि, तेषां यः सफलो विरोधो भारतेन प्रकटीकृतः, सः सङ्घटनात्मिकायाः शक्तेरेव साहाय्यात्। पाकिस्तानदेशस्याक्रमणं किं वा चीनस्याक्रमणं विगतवर्षेषु यत्समभवत्, तस्य सम्मुखे अन्तः सारमयेन कुलिशवत् कठोरेण लोहवद्दृढेन हिमालयवत् स्थिरेण भारतेन स्वपराक्रमस्य यो हि स्थाने परिचयः प्रदत्तः, तस्य मूले भारतीयानां सङ्घटनात्मिकायाः शक्तेरेव सुमहान् प्रासादः पर्यवस्थितं आसीत्। यथा अस्माभिः भारतीयैरद्यावधिस्वकीयाया एकतायाः परिचयो विभिन्नराष्ट्रवासिनां पुरः समुपस्थापित, तथैव सर्वदा भवेदिति। विषयेऽस्मिन्नेका सूक्तिवर्तते यद्—

सत्यवाचि युगे सत्ये त्रेतायां धर्मकर्मभिः।
द्वापरे यज्ञदानादौ सङ्घे शक्तिः कलौयुगे[४८]।।

प्रकृतपद्यस्य सारांशो वर्तते, यत्सत्ययुगे सत्ये शक्तिरासीत्, त्रेतायुगे धर्मकर्मणि शक्तिरासीत्, द्वापरे यज्ञदानादौ शक्तिरासीत्, किन्तु वर्तमाने घोरे कलियुगे सङ्घे शक्तिर्वर्तते, इत्थं कलियुगस्य साङ्घीयायाः शक्तेर्महत्त्वम् प्रददत् पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वं वर्तते।

ब्राह्मणवेदं भोजयति (यं यं ब्राह्मणं जानाति लभते विचारयति वा तं वा भोजयतीत्यर्थः।) कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये[४९]।

द्वितीया ब्राह्मणे[५०]।
सोम्यो ब्राह्मणः। सोममर्हति यः[५१]।
ब्राह्मणासः, देवासः। आज्जसेरसुक्[५२]।
ब्राह्मणसुखं पायसम्। प्रीतौ च[५३]।
श्वाकल्कचैत्रकाः, शिनिवासुदेवाः, राजानः। राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु[५४]।
आर्यब्राह्मणः। आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः[५५]।
द्विजः। अन्येभ्योऽपि दृश्यते[५६]।
ब्राह्मणशालम्। तत्पुरुषे शालायां नपुंसके[५७]।
ब्राह्मणस्य कर्म ब्राह्मण्यम्। कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः[५८]।
ब्राह्मणस्य कर्म ब्राह्मता। तलन्तः[५९]।
कुब्राह्मणः। सोरवक्षेपणे[६०]।
ऋत्विक्पुत्रः।
नत्वाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः[६१]।
ब्राह्मणराज्यम्। अकर्मधारये राज्यम्[६२]।
ब्राह्मणकुलम्, ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणशाला। तत्पुरुषे शालायां नपुंसके[६३]।
ब्राह्मणमित्रः। नञो जरमरमित्रमृताः[६४]।
ब्राह्मणसेनम्। सभायां नपुंसके[६५]।
राजब्राह्मणः। राजा च[६६]।
राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धमवृष्णिषु[६७]।
तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः[६८]।
गोष्ठजो ब्राह्मणः। गोष्ठजस्य ब्राह्मणनामधेयस्य[६९]।
भरति, बिभर्ति वा भरुः, स्वामी हरश्च।
भृमृशीतृचरित्सबितनिधनिमिमस्जिभ्य उः[७०]।

निष्कर्ष

इत्थं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे पञ्चाशद् (५०) वर्णसम्बद्धान्युदाहरणानि, वर्णसम्बद्धान् प्रयोगान्, वर्ण्णसम्बद्धानि सूत्राणि च प्रदाय, अस्माकं पूर्वजः ऋषिभिर्महर्षिभिश्च कथं वर्ण्णव्यवस्था कृता? तस्याः का उपयोगिता? इत्यादिकं ज्ञानं समाजहिताय लोकहिताय च दत्त्वा पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वं भवत्येव।

पादटिप्पणी

१. शु.यजु. ३१/११
२. श्रीमद्भगवद्गीता २/३३
३. श्रीमद्भगवद्गीता ४/१२
४. म.भा.आ. १
५. श्रीमद्भगवद्गीता १८/४६
६. वा.सू. ३०५
७. पा.सू. २/४/६
८. वा.सू. २९
९. वा.सू. २५३
१०. पा.सू. ६/३/८१
११. पा.सू. २/३/१३
१२. क्रयादिः १५६८
१३. भ्वादिः १०७२
१४. नीतिशतकम् ४३
१५. नीतिशतकम् टीकायाम्
१६. सु.र.भा. ७१/१
१७. सु.र.भा. ७१/१०
१८. सु.र.भा. ७/१४
१९. श्लोकसि. कौमुदी
२०. श्लोकसि. कौमुदी
२१. वै.भू. सारटीकायाम्
२२. सु.र.भा. ५१/१७६
२३. वा.सू. २५३
२४. पा.सू. २/३/४१
२५. पा.सू. १/२/१०
२६. पा.सू. १/२/५९
२७. पा.सू. ६/३/४३
२८. पा.सू. २/४/५८
२९. वा.सू. ४९५
३०. श्रीमद्भागवद्गीता १८/४२-४४
३१. श्रीमद्भगवद्गीता १८/४५
३२. वा.सू. ४९६
३३. पा.सू. ५/१/१३६
३४. पा.सू. ५/२/७१
३५. पा.सू. ५/४/९
३६. पा.सू. ३/१/१०
३७. पा.सू. ३/३/११३
३८. पा.सू. ३/१/१०३
३९. पा.सू. ३/१/११२
४०. पा.सू. ३/१/१२७
४१. वा.सू. ६७५
४२. पा.सू. ३/२/१०१
४३. पा.सू. ७/४/४१
४४. पा.सू. ३/३/५२
४५. पा.सू. ३/३/६९
४६. सु.र. भाण्डागारम् ८६/३
४७. सु.र. भाण्डागारम् टीकायाम्
४८. सु.र. भाण्डागारम् टीकायाम्
४९. पा.सू. ३/४/२९
५०. पा.सू. २/३/६०
५१. पा.सू. ४/४/१३७
५२. पा.सू. ७/४/५०
५३. पा.सू. ६/२/१६
५४. पा.सू. ६/२/३४
५५. पा.सू. ६/२/५८
५६. पा.सू. ३/२/१०१
५७. पा.सू. ६/३/१३
५८. लि.सू. १२१
५९. लि.सू. १७
६०. पा.सू. ६/२/१९५
६१. पा.सू. ६/२/१३३
६२. पा.सू. ६/२/१३०
६३. पा.सू. ६/२/१२३
६४. पा.सू. ६/२/११६
६५. पा.सू. ६/२/९८
६६. पा.सू. ६/२/५९
६७. पा.सू. ६/२/३८
६८. फि.सू. ७६
६९. फि.सू. ७०
७०. उ.सू. ७



पाणिनीयव्याकरणे सिद्धान्तविमर्शः

महामहोपाध्याय आचार्य जयप्रकाश नारायण द्विवेदी

पूर्व निदेशक

द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी

द्वारका, गुजरात

प्राचीनकालात् एव भारतदेशः धर्मेण, आचारेण, विचारेण, संस्कृत्या च निखिलस्याऽपि विश्वस्य श्रद्धाकेन्द्र आसीत्। भारतीयसंस्कृतौ च धर्मस्य सदाचारस्य महत्तमं स्थानमस्ति। तत्र च कोऽसौ धर्मः? इति विचिकित्सायां "यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।" इति महर्षिणा कणादेन प्रतिपादितम्। येन च मानवस्याऽभ्युदयस्य निःश्रेयसस्य च सिद्धिर्भवति सो धर्मः। व्युत्पत्त्या तु धारणार्थकाद् धृञ् धारणे[1] धर्मशब्दस्य निष्पत्तिर्भवति। तथा च "यश्च वस्तुस्वरूपं धारयते" वा यो धृतः सन् धारयते स धर्म इति। एतदेवाऽभिलक्ष्य महाभारते धर्मस्वरूपं निगदितम्—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः[2]।।

वस्तुतस्तु यस्य पदार्थस्य तत्स्वाभाविकमाचरणं तदेव तस्य धर्मः। अत एवैषोक्तिर्वर्तते यद्—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्[3]।।

इत्थं धर्मसम्बन्धि यन्महत्त्वं लोके दृश्यते, तदेव महत्वं पाणिनीव्याकरणे वर्तते, कथं यद् महाभाष्यकारः पतञ्जलिरपि कथयति यद् लोकाऽधीनं व्याकरणमस्ति। श्रीमता भट्टोजिद्रीक्षितेन पाणिनीयसूत्राणां लोकव्यवहारार्थं नैकान्युदाहरणानि, नैके प्रयोगाः पाणिनीव्याकरणशास्त्रे प्रदत्तास्सन्ति। अतः लोकव्यवहारिकत्व दृष्ट्या पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे प्रदत्तान्प्रयोगान्पश्यामस्तायत्। यथा—

धर्मं चरति इति धार्मिकः। धर्मं चरति[4]।

किन्त्वित्थन्नोक्तं यद्धर्मं चरतीति धार्मिकः। धर्मो यदस्मानुपदिशति तदनुसारं जीवनं यापयति, स एव धार्मिक भवितुमर्हति। प्रयोगोऽयं "धर्मं चरति[5]" इत्यस्मिन् सूत्रे उक्तः।

समाजं रक्षति इति सामाजिकः। रक्षति[6]।

मानवोऽयं निसर्गदेव सामाजिकः प्राणीति वृत्तवृत्तिविषयमेव सर्वेषां विचारकाणाम्। यतः समाजं समपहाय मानवस्य कल्पनाऽपि कर्तुं न पार्यते। समाजस्य समुन्नति स्वसमुन्नतिं स्वीकृत्य तदर्थमेव कर्म कुर्वन्तो जनाः सर्वेषामेवाऽऽदरपात्रतां यान्ति। समाज चैव जनो जन्म धत्ते, वर्धते, समुन्नतिं कुरुते समाजमध्य एव लीयते, तत्रैव च सन्ततिरूपेण तेन स्थीयते। अत एव महापुरुषौ सर्वैरिव सर्वथा समाजसेवा तथा कर्त्तव्या यथा सिन्धोः बिन्दोरिव समाजात् तेषां पृथक्करणं कदापि न भवेत्। किम्बहुना समाजसेवयैव जनानां महापुरुषता जायते। स एव सामाजिको नाम समाजं रक्षतीति सामाजिकः। सामाजिकसदृशमुदाहरणमुद्धृत्य पाणिनीयव्याकरणं लोकव्यावहारिकत्वं भवति।

अधर्मं चरतीति अधार्मिकः। अधर्माच्चेति वक्तव्यम्[7]।

पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यवहारं विज्ञान समाजस्य सामाजिकीं स्थितिं दृष्ट्वा धर्मं चरति इति धार्मिकः, उदाहरणेऽस्मिन् "धर्मं चरति" सूत्रमिदं यं प्रत्ययं करोति, स एव प्रत्ययः "अधार्मिकः" अत्र न भवति, कथं यद् धार्मिकपुरुषस्य लोके यन्मानन्भवति, तदेव मानमधर्मिकस्य भवितुमेव नार्हति। अत एव

धार्मिकाऽधर्मकयोः भेदं प्रस्थाप्य पृथक्पृथक् सूत्रं पाणिनिर्निर्मितवान्। एतावता विज्ञायते यद् यल्लोके लोक-व्यवहारो भवति, स एव व्यवहारो पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रे भवति कथं यद् लोकव्यवहारं हृदि निधाय पाणिनिना सूत्राणि निर्मितानि, अत एव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे लोकव्यवहारिकत्वं भवति।

आपणस्य धर्म्यम् आपणिकम् । तस्य धर्म्यम्[८]।

लोकव्यवहारे जातिविशेषाणां विशेषाधिकारा-ऽनुसारेण विशेषरूपेण विहितो धर्मो विशेषधर्म उच्यते। यथा मानवस्य मानवधर्मः नार्य्याः नारीधर्मः, गृहस्थस्य गृहस्थधर्मः वानप्रस्थस्य वानप्रस्थधर्मः संन्यासिनां संन्यासिधर्मश्चेति। तथैव ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां च पृथक्-पृथग् ये धर्माः निरूपिताः, ते सर्वे "विशेष धर्माः" इति शब्देन व्यवह्रियते। विशेषशक्तिसमन्वितो धर्मः असाधारणधर्मः, तथैव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां यो धर्मः स एव धर्मः कथितो यथा- वैश्यस्य आपणस्य धर्मो वैश्य आपणधर्मं करिष्यति, तदैवाऽऽपणिको वैश्योभवति, अन्यथा तद्विरुद्धं कार्य्यं भविष्यति, इत्थमापणस्य धर्म्यम् आपणिकम्, इत्थं धर्मसम्बन्धिनम्प्रयोगमुदाहृत्य लोकव्यवहारस्य सम्मानं कृतमतः पाणिनीव्याकरणशास्त्रे लोकव्यावहारिकत्वमस्ति।

धर्मार्थं विनियुङ्क्ते-

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्य
प्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः[९]।

इह बहुविधचर्चाचर्यिते संपद्विपद्बहुलसंसारे मानव एव सर्वाधिकप्रभावशालितां भजते सर्वेषु इतरजीव-निवहेषु। तस्य सर्वेऽपि व्यापारा शरीराऽऽधीना एवं वर्तन्ते। शरीरं च सर्वेषां सुखदुःखादीनां सांसारिकभोग्य-वस्तूनां च भोगायतनम्। एवमेव सर्वेषामेव पुण्याऽपुण्य-कर्मणां धर्मार्थकामानां त्रिवर्गाणां सकलनिःश्रेयसकरस्य मोक्षस्याऽपि साधने शरीरमेव हेतुर्विद्यते। धर्मा-ऽर्थकाममोक्षाऽऽख्येषु आचारविचाराणां लोकव्यवहाराणां च मूलं वर्तते। अयमपि लोकव्यवहारो वर्तते, यद् मानवो धनमर्जयति प्राप्नोति लभते, तस्माद् धनाद् दशांऽशभागो धर्मार्थकार्ये रक्षितव्यः। अत एव धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यादयः प्रयोगाः सङ्गच्छन्ते, चेद् धर्मार्थं धनं न रक्षिष्यति, तदा स्वस्थशरीरोऽपि जनो लोकमिमं स्वर्लोकं विधातुन्न शक्नोति, अतो धर्माय अर्थः धर्मार्थः धर्मार्थं धनं ददाति, यल्लोके तदेव व्याकरणे, यद् व्याकरणे तदेव लोके। पतञ्जलिरपि प्रयोगमिमं ध्यायं ध्यायं व्याकरणमहाभाष्यस्य प्रथमाह्निके व्याकरणस्य गौणप्रयोजनानि विस्तारयन् गायति यद् यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः[१०]।।

कः। वाग्योगविदेव। कुत एतत्। यो हि शब्दा-ञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मं प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति।

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येव-मादयोऽभ्रंशाः। अथ योऽवाग्योगवित्। अज्ञान तस्य शरणम्। विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाऽज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्, सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि। सोऽनन्त-माप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दः। कः। अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम्। ज्ञाने धर्मः इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति। यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यासौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येव-मादयोऽपभ्रंशाः।

आचारे पुनः ऋषिर्नियमं वेदयते। तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुरिति। अस्तु तर्हि प्रयोगे।

यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन प्रयुज्यते। न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवत्ता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः।

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते। शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेदशब्देन। वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्तियोऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वेद, सोग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेवं वेद, यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते, सोऽभ्युदयेन युज्यत इति।

अत एव लोके मानवो महता प्रयत्नेनाऽनेकानि वस्तूनि संगृह्णाति रक्षति च, किन्तु परलोकयात्रासमये किमपि वस्तु एकं पदमपि न गच्छति, अत एव केनचित् कविनोक्तं यद्—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्माऽनुगोगच्छति जीव एकः[१०]।।

अतो धर्म एव एक तादृशोऽस्य सुहृद् चः परलोकयात्राकालेऽपि तमनुसरति, तत्र साहाय्यं विद्धन् तारयति च मनुजम्। सत्यमुक्तं केनापति नीतिविदा—

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः परमसखा परमहो परलोकयाने[११]।।

अत एव धर्मस्य महत्त्वं प्रतिपादयन् स धर्ममनूच्य आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति यद्—

धर्मं चर, धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

इत्थं शास्त्राणि यं यं मार्गमुपदिशन्ति, तदेव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमपि कथयति, अतः पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं बहुसमयादपि लोकव्यावहारिकं लोकभोग्यं चाऽस्ति।

नरस्य धर्म्या नारी। नराच्चेति वक्तव्यम्[१२]।

सर्वा इतरसंस्कृतीः परिभाव्य भारतीया संस्कृतिः सर्वश्रेष्ठपदमलङ्करोति, इति विदन्त्येव संस्कृतप्रणयिनो विद्वांसः। अस्याः सर्वश्रेष्ठता च वैर्गुणैः परिलक्ष्यते तेषु" "नारी सम्मानम्" अपि ग्रहगणेषु ग्रहाऽधिपतिरिव चकास्ति। जन्मन् आरम्भ विवाहानन्तरं यदा सा पतिगेहं गच्छति, तदा सा न दासी भवति, अपि तु सा तत्र साम्राज्ञीपदमेव गृहणाति। नरस्य धर्मानुसारिणी नारी तदैव भवति, यदा स्वगृहस्य धर्मः तं तं धर्ममनुसरति, इत्थं नारीसम्मानं लोक एवं नास्ति, अपि तु पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रेऽपि नारीसम्मानं कृतमस्ति, अत एव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वमस्ति।

आस्तिकः। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः[१३]।

अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोकः इत्येव मतिर्यस्य स नास्तिकः "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः[१४]" आस्तिकनास्तिकयोर्भिन्ना मतिर्भवति, कथं यत् तयोर्दृष्टिर्भिन्नाऽस्ति, तयोर्लक्ष्यं भिन्नमस्ति, तयोर्विचारा भिन्ना वर्तन्ते। एतयोरेकं ईश्वरं प्रति श्रद्धां कुरुते, एतयोरेक ईश्वरं प्रति श्रद्धां न करोति। एकः कथयति यदीश्वरो वर्तते, एकः कथयति यदीश्वरो न वर्तते। इत्थं भिन्नमतीनाम् उदाहरणान्यु-दाहृत्य, इदं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकज्ञमिति अवगम्यते,।

यथा—

कामुको दास्या संयच्छते। अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया[१५]।

लोके लोकविरुद्धं कार्य्यं कोऽपि करोति, तदा लोकः तं पुरुषं दण्डयति, यल्लोके स्त्रीसम्मानं न करोति, स्त्रीविरुद्धं किञ्चिदपि कर्म करोति, तस्मै लोके मानन्न ददाति, तथैव पाणिनीव्याकरणशास्त्रेऽपि भार्यायै संयच्छति, तदा तु सम्प्रदानसंज्ञा भविष्यति,

किन्तु लोकविमुखं कार्य्यं यः कोऽपि करोति, तदा पाणिनीव्याकरणशास्त्रे तस्य शब्दस्य सम्प्रदानसंज्ञामेकमपि सूत्रन्न करोति। अत एव "दास्या संयच्छते कामुकः" इत्यस्मिन् प्रयोगे दासीशब्दस्य सम्प्रदानसंज्ञा न भवति, तत्पश्चाच्चतुर्थीविभक्तिरपि न भवति। अत्र लोकयोग्यं कोऽपि करोति, तदैव योग्या विभक्तिर्भवति। अत एव कामुको यद्यत्कार्य्यं करोति, तत्तकार्य्यं लोकविरुद्धं कार्यं भवति। समाजोऽपि तस्मै शिक्षां ददाति, दण्डयति, तथैव पाणिनीव्याकरणशास्त्रमपि लोकविरुद्धं कार्य्यं न करोति, अतः "कामुकः दास्या संयच्छते" इत्यादीन्युदाहरणानि संगच्छन्ते, अतः पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं लोकव्यावहारिकत्वं संगच्छते।

योऽन्नं ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गं याति यास्यति याता वा।

लिप्स्यमानसिद्धौ च[१६]।

वर्तमाने जगत्यन्नस्य यो महिमा वर्तते, स एव महिमा पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वर्तते। वेदेऽपि अन्नस्य महिमानं वर्णन्तो विद्वांसः कथयन्ति यद्—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुः भोक्ता देवो महेश्वरः।
एवं ज्ञात्वा नरो भुङ्क्ते सोऽन्नदोषैर्नलिप्यते।।
अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः।
अस्माकं नित्यमस्त्वेतद् इति भक्त्या स्तुवन्नमेत्[१७]।।
अन्नं वै ब्रह्म।
प्राणा ह्यन्नम्।
अन्नेन जातानि जीवन्ति तस्मादन्नं ब्रह्म।
आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः[१८]।।
अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्[१९]।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्[२०]।।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं मुने।
अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणा ह्यन्ने प्रतिष्ठिताः[२१]।।
अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो।
मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः[२२]।।

इत्यादीनि श्रुतिवाक्यान्यपि अन्नस्य महिमानं गायन्ति, तथैव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमपि कथयति, यद् योऽन्नं ददाति दायति दाता वा, स स्वर्गं याति तदेव व्याकरणे, यद्व्याकरणे तदेव लोके। इत्थं लौकिकान्युदाहरणानि पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे प्रस्थापयति।

यथा—

विभाजयितुधर्म्यं वैभाजितत्रम्। विभाजयितुर्णिलोपश्चाञ्च वाच्यः[२३]।

वार्तिककारेण निर्दिष्टोऽयं प्रयोगोऽस्मानुपदिशति, यत् स्वतन्त्रताप्राक्पूर्वोऽयं भारतदेशोऽखण्डो नासीत्, तस्मिन् नैके विभाजका आसन्, तेषामपि विभाजयितृणां धर्मः स्वभाव एवाऽऽसीत्। गीतायामपि कथितं, यन्मानवः स्वं स्वभावं कयापिरीत्या त्युक्तुं न शक्नोति। भारतेतिहासानुसारं प्रयोगोऽयं संघटते। तथैव प्रयोगोऽयं दृश्यते यद्—

विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम्। विशसितुरिड्लोपश्चाञ्च वक्तव्यः[२४]।
महिष्या धर्म्यं माहिष्यम्। अण् महिष्यादिभ्यः[२५]।
यजमानस्य धर्म्यं याजमानम्, कल्याणो धर्मो यस्य स कल्याणधर्मः।
धर्मादनिच्केवलात्[२६]।

इत्थं विविधानि स्थानानि पावयन्ती लोकसन्तापं हरन्ती जानवलिं मोदयन्ती स्वादर्शमार्गं दर्शयन्ती यथा भगवती जाह्नवी स्वावगाहिनो जनान् कृतार्थयन्ती दृश्यते, तथैव देशतीर्थे भगवती भागीरथी कर्तव्यभावनां वहन्ती शत्रुगुणान् सन्तर्जयन्ती जनान समाकर्षन्ती प्रत्यक्षमेव पुनीते, स्वावगाहिनः स्वाभिमानिनो मनीषिणाः। भारतेऽपि स्वेतिहासावकाशे तादृशानि देशभक्तिभरितानि तानि नक्षत्राणि देदीप्यन्ते, येषां भाषा विभाति विश्वमिदम्। सर्वैरेव जयैर्यदि तादृशानि चरित्राणि स्वादर्शतया स्वीकृत्य सततमेव देशोन्नतौ चेष्टा क्रियते, तर्हिं न तादृशं किमपि कारणं पश्यामः, येन प्राचीनभारतो भारतोऽयं भूयो विश्वगुरुपदं समलङ्कृतो न कुर्यात्।

एतादृशी भावनां दृढ़ीकुर्वन् पाणिनीयव्याकरणशास्त्रं स्वस्थ सूत्राणि सार्थकानि कुर्वत् प्रयोगमवतारयति, यद् भारते देशेऽस्मिन् कल्याणधर्माणो मानवा भवेयुः। स्वार्थनिरतोऽपि जनः स्वगृहस्य समुन्नत्यर्थं सर्वथा सर्वदा च चेष्टते, तस्य विनाशकं कारणं यद् देशस्य, राजस्य विश्वस्य च स्वसमुन्नतिं देशावनति च स्वावनतिं संकलय्य सर्वाः चेष्टा विधातव्याः। एवं कृते पुनरेव भारतं भारतं भवेत्। इत्थं देशहिताय जनहिताय विश्वहिताय नैकवर्षपूर्वकालिकः पाणिनिः भारतस्य भविष्यं चिन्तयन् कथयति, यत् कल्याणधर्मां मानवो भवेत्, एतां भावनां हृदि निधाय मनस्यपि कथयितुन्न शक्नुमः, यत् पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमिदं लोकव्यवहारिकभिन्नं वर्तते। इत्थं विश्वकल्याणाय, देशकल्याणाय, सर्वमानवकल्याणाय, एतादृशी भावनाऽन्यस्मिनेकस्मिन्नपि शास्त्रे नाऽवलोक्यते।

सर्वेषामाचाराणां विचाराणामाहाराणां व्यवहाराणां सदाचाराणाञ्च नियामको धर्मं एव। धर्मेणैव च ऐहिलौकिक-पारलौकिक-सुखावाऽप्तिश्च भवति। शिबि-दिलीप-प्रभृतयो राजानः धर्मेणैव संसिद्धिमास्थिताताः। धर्माऽऽश्रयेणैव मानवाः संसारस्य बन्धनानि मुक्त्वा मुक्तिं भजन्ते। अत एव धर्मस्याऽऽचरणं पालनं वा सर्वेषां मानवानामभ्युदयः श्रेयः प्रेयश्च भवति। एवं च सततमाचरणीयो धर्मो मनसा वाचा कर्मणा चेति। मनुनाऽप्युक्तं यद् धर्माऽनुष्ठानेन अनुत्तमं सुखं लभन्ते मानवा यथा -

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्[२७]।।

इत्थं धर्माऽनुसारेण प्राप्तुं योग्यं प्राप्यं धर्म्यमस्ति, तदेव लोकमान्यं भविष्यति, अन्यथा पापाऽनुसारेण प्राप्यं धर्म्यम्, यत्किञ्चिदपि लोकमान्यविरुद्धं भवति। इत्थं धर्ममहत्त्वं प्रतिपादयत् पाणिनीव्याकरणशास्त्रं प्रयोगनियममुद्धरति यद् -

धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्, धर्मादनपेतं धर्म्यम्।
धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते[२८]।
कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः। कर्मणि घटोऽठच्[२९]।

इत्यादयः प्रयोगा लोकमान्या भवन्ति। अत एव पाणिनीयव्याकरणशास्त्रमिदं लोकव्यावहारिकं सिद्ध्यति।

पादटिप्पणी

१. ध्वादिधातुः ९६६
२. सु. भा. रत्नभाण्डागारम्
३. मनुस्मृतिः ८।१५
४. पा. सू. ४।४।४१
५. पा. सू. ४।४।४१
६. पा. सू. ४। ४। ३३
७. वा. सू. ३९४
८. पा. सू. ४। ४। ४०
९. महाभाष्यम् पस्पशाह्निकम्
१०. सु. र. भाण्डागरम् ९६।५५
११. सु. र. भाण्डागारम् ९७।६२
१२. वा. सु. ३९५
१३. पा. सू. ४।४।६०
१४. पा. सू. ४।४।६०
१५. पा. सू. १३९
१६. पा. सू. ३।३।७
१७. मनुस्मृतिः २।५४
१८. छा. उ. ७।२६।२
१९. तै. उ. ३।७।०१
२०. मनुस्मृति : २।५५
२१. शि. पु. उ. सं. ११।१७।१८।२४
२२. ना. उ. ३। १
२३. वा. सू. ३९७
२४. वा. सू. ३९६
२५. पा. सू. ४।४।४८
२६. पा. सू. ५।४।१२४
२७. मनुस्मृति ४।१५५
२८. पा. सू. ४।४।९२
२९. पा. सू. ५।२।३५



विविधशास्त्रेषु धर्मस्य महत्त्वम्

डॉ. राजेश कुमार चतुर्वेदी
प्राचार्य
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर

धर्मप्रातिपादनायैव वेद:, उपनिषदा:, दर्शनशास्त्राणि, पुराणानि, व्याकरणशास्त्रादीनि च जगति प्रवर्तन्ते। मानवजीवने धर्मोपादेयता निरुपणात् पूर्वशास्त्राणाम् संक्षिप्ताशय: धर्मं प्रति धर्मशब्दे व्याकरणदृष्ट्या "धृञ् = धारणे" इत्यस्माद्धातो: मन्प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। अस्य व्युत्पत्तिस्त्रिधा भवितुमर्हति।

क. ध्रियते लोकोऽनेनेति धर्म:। अर्थाद् येन लोकधारणं क्रियतेऽसौ धर्म:।

ख. धरति धारयति वा लोकमिति धर्म:। अर्थाद्योलोकं धारयेद् असौ धर्म:।

ग. ध्रियते य: स धर्म:। य: अपरै: धारणं क्रियते असौ धर्मोऽस्ति।

१. सुकृतम् = पुण्यम्, २. वैदिकविधिनता यागादय:, ३. यमराज:, ४. न्याय:, ५. स्वभाव:, ६. आचार:, ७. सोमरसपानकर्ता।

विविधशास्त्रदृष्ट्या धर्मपरिभाषया

धर्मशास्त्रपदार्था:—तत्र धर्माय शास्त्रं धर्मशास्त्रं धर्मस्यशास्त्रप्रयोजकं शास्त्रम् धर्मप्रयोजनम् शास्त्रं इति विग्रहवहुत्वेऽपि धर्मशब्दस्यार्थज्ञानं विना धर्मशास्त्र-पदस्यार्थनिर्धारणं दुष्करमिति धर्मस्तावद् विधिरूच्यते। धारणाद् धर्म इति पुराणेषु व्युत्पत्ति:। यं लोको धारयति स धर्म:। उत् यो लोकं धारयति स धर्म इति चिकित्सायाम:। धर्मोधारयति प्रजा: कति पुराणेषु संदेहनिर्वर्तकं वाक्यम्। एतेन धर्म एव लोकस्य धारकं इति निश्चीयते।

अथ कोऽयं धर्म: यो लोके धारयतीति प्रश्ने
यमार्या: क्रियमाणं हि संशन्त्यागमवेदिन:।
स धर्मोऽयं विर्गहन्ति तमधर्मं प्रचक्षते१।।

इति केचित् तत्रधर्मे प्रत्यक्षप्रामाणाभावात्। प्रत्यक्षं हि वर्तमानस्यैव भवति धर्मस्तु भूतभविष्यद्वर्तमानरूप-कालत्रयानवच्छिन्नानुष्ठेयकर्मकारणोपकरणोपेत भावना-रुपतया वर्तमानत्वात् नानुमानं प्रमाणम्, होतोरग्रहणात् नोपमानप्रमाणं सादृश्यमूलकत्वादुपमानस्य नार्थापत्ति-प्रमाणम् प्रत्यक्षावगतानुपपद्यमानार्थपूवकत्वात्।

नापि चोदना अर्थोधर्म: चोदनाया अनिरुक्ते:। नापि श्रेय: साधनताधर्म: अनिरुक्ते:। अतोधर्मे शब्दस्यैव प्रामाणत्वमङ्गीकार्यम्। तत्रश्रुतिधर्मे विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा इति। स्मृतिरपि वेदोऽखिलो धर्ममूलम् इति।

अत्र याज्ञवल्क्य:

श्रुतिस्मृति सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:।
सम्यक् सङ्कल्पज: कर्मो धर्ममूलमिदं स्मृतम्[२]।।

मनुरपि—

धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[३]।

अथ लक्षण हेतु—

इज्याध्ययनदानानितप: सत्यं धृति: क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविध: स्मृत:।।

इत्थं धर्मस्यमूलहेतुमार्गेषु निर्णीतेषु धर्मस्य स्वरूप निर्णितं भवति। स च धर्मोद्विविध:—१. प्रवृत्तिसंज्ञको, २. निवृत्तिसंज्ञकश्च। तत्राभ्युदयफलक: प्रवृत्तिधर्म: वेदस्य कर्मकाण्डदेवताखण्डयो: प्रतिपादित:।

धर्मोऽपि विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठप्रजाः उपसर्पन्ति धर्मेण। पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परं वदन्तीति।

वदति मनुः—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनां आत्मानस्तुष्टिरेव च[४]।।
इति।

नन्वखिलस्य वेदस्य धर्ममूलत्वे ज्ञानप्रतिपादकोपनिषद्भागस्यापि धर्ममूलत्वम् स्यात्। तथात्वे वा कर्मकाण्डज्ञानकाण्डविभागो न स्यात्। अतः कथं वेदस्य सर्वस्य धर्ममूलतामात्रलक्षणाया मनुस्मृतेर्यन्मनुवदत्तद्भैभेषजमिति वेदेनैपार्थ वेद इति कथमविद्यते सत्यम्।

अयमत्र वाक्यार्थः अखिल इति विधिनिषेधात्मकतया धर्मशब्दोऽजहस्वार्थलक्षणया धर्मादिपरः। अथवा एव सर्वस्य वेदस्य धर्ममूलता न चोपनिषदां धर्ममूलत्वभाव इति वाच्यम् तासामपि तन्मूलत्वात्। धर्मस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञकतया द्वैविध्यात्। श्रेयत्वान्निवृत्तिसञ्ज्ञस्यापि निःश्रेयः साधनत्वात्।

शीलमद्रोहः

अद्रोहः सर्वभूतानाम् कर्मणा मनसागिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानञ्च शीलमेतद्विदुर्बुधः[५]।।

हारिताश्चब्राह्मण्यादेवपितृभक्तता सौम्य इतिभारते अपरोपतपिता अनसूयता मृदुता मित्रता प्रियवादकत्वम् कृतज्ञता शरण्यतां प्रशान्तिश्चेति ययोदसविधं शीलमिति। अत्र भावप्रात्ययान्तं तयोक्तिशतुकियातिरिक्ततां बोधयत् स्वभावतामेव ज्ञापयति इत्याचार्यनुष्ठानलक्षणां क्रियारूपा वासद्भिदोऽपि सिद्धः। आचारश्च विवाहादि कङ्कणबन्धनादिरूपः पुरुषविशेषस्वभावस्त्वन्यथानुपपद्यमानः स्वस्य श्रेयः साधनतामवगमयतीति आत्मन एव धर्मं प्रमादयेदिति आत्मनस्तुष्टिरत्र धर्मत्व सन्देहेसति वैदिकसंस्कार वासितन्तः करणानां साधूनामेकत्र मनसः परितोषः।

मीमांसागते—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

कणादेन—

यतोऽभ्युदयानिःश्रेयससिद्धि स धर्मः[६]।।

महाभारते—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः[७]।।

गीतायाम्—

यतो धर्मस्ततो जयः। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्[८]।।

अथ शास्त्राणां विलोकनेन भारतीयसंस्कृतेश्च समीक्षया यत्तत्वं धर्मस्य सन्दर्भे समुपलभ्यते, तदनुसारं पुरातनकालादृष्टिमहर्षिणां शाश्वतचिन्तनेन समुद्भूतोऽसौ धर्मः। मानवानां नैतिकमूल्याङ्कनसंवर्ध्य तेषु मानवविधायकः कश्चन उच्चस्वभाविनः स्यूतो धर्मो नाम् प्राणतत्त्वम्। एवञ्च मानवानां पशुतामपहाय प्रदर्शत्व मुनित्वञ्च देवत्वं ततः परमात्मतत्त्वम् प्रति मानवान् विनेतुम् एकाविशिष्टाया पद्धतिः सैव धर्मनाम्ना प्रदर्शिभिः प्रतिष्ठापिता। एतस्मादेव भारतीयवाङ्मयस्य संस्कृतेः शिक्षायाः दर्शनानाञ्च प्राणतत्त्वं वा धर्मो विद्यते।

उक्तञ्चापि याज्ञवल्क्यस्मृतौ—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्[९]।।

एवं हि अस्य प्राणतत्त्वस्य संरक्षणार्थं नैक उपायोऽनुष्ठितः। ऋषयो धर्मार्थ शास्त्राणि प्रोचुः। देवा धर्मसंरक्षणार्थं प्रतिष्ठाप्यन्ते। भगवतो विविधावतारा धर्मसंस्थापनायैव बभुवुः।

गीतायाम्—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे[१०]।।

धर्मरक्षणायैव च राजन्त्रं प्रजातन्त्रं प्रवर्तते। धर्मार्थमेव च विविधाः सम्प्रदाया मतानि साधवो महापुरुषाश्च देशेऽस्मिन् धर्मो लोकान् नियमयति। अत एव निरुक्ते धर्मो नियमविशेष इत्युक्तम्। यो हि नियमः संसारं सञ्चालयति जगदिदं संधारयति स धर्मः। धर्मेण नियन्त्रितं

जगत् सुखमश्नुते। अत एवोक्तम्—धनाद्धर्मस्ततः सुखम्। वास्तविकं सुखं धर्मेणैव प्राप्तुं शक्नुमः। तच्च सुखं द्विविधम्। किन्तु ऐहिकम्, अपरन्तु पारलौकिकम्। उभयविधसुखस्य प्रदाता धर्म एव। सर्वे जनाः सुखाय यतन्ते। तस्य मौलिकं साधनं धर्मोऽस्ति। अत एव वैशेषिकदर्शनस्याचार्यः कणादो निःश्रेयसाधिगम-साधनत्वेन धर्मं मनुते।

ईश्वरस्यापि विश्वपालनपोषणकर्मणि धर्मस्यैव सूक्ष्मतया समीक्षणं विद्यते। यतोहि धर्मेणैव ईश्वरीयसत्तापि सिद्ध्यति। अत एवोक्तं भागवते—धर्मार्हं वृषरुपधृक्। विष्णुसहस्रनामस्तोत्रेऽपि लिखितमस्ति यत् धर्म गुब्धर्मकृद्धर्मी इति। दिव्यकार्येषु धर्मरक्षा प्रामुख्यं भजते। यतोहि रक्षिते धर्मे प्रजाः स्वयमेव रक्षिताः स्युः। अतएव धर्मस्य स्वामिना भगवता एव प्रोक्तम्—"आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः। धर्मोऽयं सदाचारेण समुद्भवति, यस्य रक्षा भगवान् स्वयं विदधाति। अत एव धर्मः सर्वदा पालनीयः"।

धर्मस्य मूलमपि भगवता। अत एवोक्तम—"धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः"। सर्वेश्वरो भगवान् धर्मस्य मूलाधारोऽस्ति। तेनैव धर्मस्य प्रादुर्भावः। स एव प्रथमं धर्मं प्रोवाच। प्रोक्तञ्च पुरुषसूक्ते—"यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानिधर्माणि प्रथमान्यासन्"। भगवतामवतारोऽपि धर्मायैव भवति। धर्मस्य संरक्षणं विधातुमेव भगवतोऽवतारः शास्त्रेषूपवर्णितः। गीतायां भगवान् स्वयं कथयति यत्—"यदा यदा हि....युगे युगे"। मनुष्याणां रक्षापि धर्मेणैव भवति। धर्मो हि अहर्निशमस्माकं रक्षणं करोति। नष्टे च धर्मे मनुष्योऽपि प्रणश्यति। "रक्षिते च धर्मे मानवोऽपि सुरक्षितः" इति पश्यामः। अत एवोक्तम्—"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"। एवमेव जयोऽपि धर्मेणैव भवति। अत एवोक्तम्—"यतो धर्मस्ततो जयः"। सहैव गीतायां सञ्जय आत्मविश्वासं निश्चिनोति—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम[११]।।

पुरुषार्थेषु प्रथमोपास्यत्वेन धर्म एव समागतः। यतो हि धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु अर्थः कामश्च धर्मपूर्वकमेव मङ्गलमातनुतः। अर्थाद् धर्मपूर्वकमुपार्जितोऽर्थः, धर्मपूर्वकमुपभुक्तः कामः कल्याणकारी भवति। अर्थस्य कामस्य च मूले धर्मोऽस्ति। धर्मविरुद्धमर्थसंग्रहणम्, धर्मविरुद्धः कामोपभोगः सर्वदैव कलहादिनानाविधदुःखसाधकोऽस्ति। धर्मेणोपात्तावर्थ-कामावेव प्रशस्तौ सुखदौ मङ्गलप्रदौ विद्येते। धर्मप्रेरितावर्थकामौ पश्याभार्याभिमतपुत्राविव सुखमातनुत इति। यदाह कश्चन कविः—

धर्मार्थकामाः किल तात लोके समीक्षिता-
धर्मफलोदयेषु।
तत्रैव सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव पश्याभिमताः
सुपुत्रः।।

अतः सर्वदैव धर्मानुष्ठान विधेयम्। धर्मविरुद्धार्थ-संग्रहपरायणः पुरुषो लोकेऽस्मिन् द्वेष्यः निन्द्यश्च भवति। एवमेव धर्मविरुद्धानुपालने मानवानां जायमानावस्था विशेषानुरोधेन धर्मस्य स्थितिः परिकल्प्यते।

पादटिप्पणी

१. संस्कारसारः
२. याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्यायः, श्लोक संख्या ७
३. मनुस्मृतिः ६/९२
४. मनुस्मृतिः २/६
५. संस्कारसारः, पृ.सं. ४२
६. वैशेषिकसूत्र १/२
७. महाभारतम्
८. श्रीमद्भगवद्गीता
९. याज्ञ. स्मृति, आचाराध्यायः, श्लो. ८
१०. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/७-८
११. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/७८



पाणिनीयव्याकरणे सूत्राणां षड्विधत्वम् एवञ्च परिभाषासूत्राणां शब्दार्थपरिचयंलक्षणञ्च

डॉ. वशिष्ठ द्विवेदी (स.प्रो.)
व्याकरण विभाग
श्रीनाथ सं.म.वि., हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

पाणिनीयजैमिन्यादिप्रणीतेषु सर्वेषु एवं सूत्रग्रन्थेषु सूत्रलक्षणं संघटते।

"अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वं सूत्रत्वम्" इति। अल्पाक्षरत्वं सर्वेषामेव सूत्राणां विशेषस्तु व्याकरणसूत्राणां विशेषः तथा च वैयाकरणेषु प्रसिद्धेयं परिभाषा "अर्थमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः[१]" इति।

पाणिनीयसूत्राणां षड्विधत्वं प्रसिद्ध्यति, ते चेत्थम्—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियमेव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रं विदोविदुः[१]।।

तद्भेदाश्च—

(1) संज्ञासूत्रम्

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधकं सूत्रं संज्ञासूत्रम्, यथा— "वृद्धिरादैच्" इदं सूत्रम् अष्टाध्यायाः प्रथमं सूत्रम् (१.१.१) अनेन सूत्रेण वृद्धि संज्ञा भवति आत् "ऐ, औ' इत्यस्य। एवं "अदेङ्गुणः" सूत्रेण गुणसंज्ञा अत् 'ए, ओ' इत्यस्य भवति। एवम्प्रकारेण इत्संज्ञा, स्वरूपसंज्ञा, पदसंज्ञा, संयोगसंज्ञा, उपसर्गसंज्ञा, धातुसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा, नदीसंज्ञा, भसंज्ञा इत्यादीनि संज्ञासूत्राणि। तैः तत्र व्याकरणशास्त्रोपयोगिन्यः संज्ञाविधीयन्ते।

(2) परिभाषासूत्रम्

अव्यवस्थायां व्यवस्थाऽऽपादकं सूत्रं परिभाषा सूत्रम् अस्ति।

सिद्धान्तकौमुदीग्रन्थे परिभाषाप्रकरणे त्रयोदश परिभाषासूत्राणि सन्ति। पाणिनीयसूत्राणां यथार्थं ज्ञानार्थं ये नियमाः वर्तन्ते ते एव परिभाषाशब्देन व्यपदिश्यते।

परिभाषालक्षणं शब्दपरिचयं च

प्रतिशास्त्रं तत्रात्यानां विषयाणां यथार्थं ज्ञानार्थं केचन नियमा अपेक्ष्यन्ते, तैः नियमैर्विना तस्य शास्त्रार्थ-निर्णयं करणे प्रमादः सम्भाव्यते। इदानीं न्यायालयेषु उपयुज्यमानानां विधिग्रन्थानां ज्ञानार्थमपि एतादृशा एव नियमा अपेक्ष्यन्ते। एतैर्नियमा आङ्गलभाषायां शब्देन व्यवह्रयन्ते। एतेषां स्वरूपपरिचयार्थं पाश्चात्य-ग्रन्थकारैर्विरचिताः बहवोग्रन्था आङ्गलभाषादिषु वर्तन्ते। व्याकरणशास्त्रस्य यथार्थं ज्ञानार्थमपि ईदृशाः नियमा अपेक्ष्यमाणा एव सन्ति एते नियमा व्याकरणशास्त्रे परिभाषाशब्देन व्यपदिश्यते। परिभाषाः कार्यं लक्षणाच्चानुसृत्य वैयाकरणः बहुभिः प्रकारैरस्याः लक्षणं व्याचक्षुः।

परिभाषशब्दः पाणिनेरष्टाध्यायीपाठे कुत्रापि नोपलभ्यते, वार्तिककारमहाकात्यायनः स्थलद्वये परिभाषा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा—"अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[२]" इत्यत्र वार्तिके वर्णयागोपदेशेति चोपवरकालत्वात् परिभाषायाः अनुपदेशः" एवं "स्वरितेनाऽधिकारः[३]" इत्यत्र वार्तिकम् "अन्य निर्देशस्तु निवर्तकस्तस्मात् परिभाषा" इति। तथा च वार्तिककारमते "अणुदित्स-सवर्णस्य चाप्रत्ययः" एवं "स्वरितेनाऽऽधिकारः" इति सूत्रं च परिभाषासूत्रं वर्तते। एवंविधः अन्यन्यान्यपि

सूत्राणां परिभाषासूत्राणि भवेयुः।

भगवान् पतञ्जलिः परिभाषासूत्रस्याधिकारसूत्रस्य च भेदं विशदयन् प्रतिपादयति यथा—

कः पुनरधिकार परिभाषयोर्विशेषः। अधिकारः प्रतियोगं तस्याः निर्देशयति योगे योगमुपतिष्ठते। परिभाषा पुनरेकदेशस्थां सर्वशास्त्रत्वमभिज्वलयति प्रदीपवत्।

यद्यपि महाभाष्यकारः परिभाषां न व्याचख्यौ तथापि सूत्रार्थनिर्णये नियमा एव 'रुपेण तां निर्दिशति' महाभाष्यकारमते परिभाषासूत्रं स्वातन्त्र्येण किमपि कार्यं न विद्यते। किन्तु—तत्सूत्रं विधिसूत्रेण एकवाक्यतां भजते। तस्य यथार्थनिर्णये साहाय्यं भजते। यथा— "तस्मिन्नितिनिर्दिष्टे पूर्वस्य[५]" इति परिभाषा सूत्रं विना "इकोयणचि" प्रभृतीनां विधिसूत्राणामर्थनिर्णयः कदापि न सम्भवेत्। तथाहि केवलं "इकोयणचि[६]" इतिसूत्रस्य आपाततोऽयमर्थः सम्पद्यते। अच् योगे इकः स्थाने यणादेशो भवतीति किन्तु—तत्रैव संदेहः प्रादुर्भवति यत् अच् योगे इकः स्थाने यणादेशो भवतीति किन्तु तत्रैव सन्देहः प्रादुर्भवति यत् अच् योगे अव्यवहितोऽपेक्षितः व्यवहितो वा पूर्वस्य इकः स्थाने यणादेशो भवतीति परस्य इकः स्थाने वा यणादेशो भवतीति "तस्मिन्नितिनिर्दिष्टेपूर्वस्य" इति परिभाषासूत्रम् 'इकोयणचि' इति विधिसूत्रस्य यथार्थं निर्णयं विदधति। यथा—'अप्परकस्याव्यवहितस्य पूर्वस्य इकः स्थाने यणादेशो भवतीति'।

परिभाषासूत्रं प्रदीपवत् सर्वाणि विधिसूत्राणि समभिलक्षयति। एवं स्पष्टप्रतिपत्तये तदपेक्षया तत्र गच्छत्यर्थात् तेन विधिसूत्रेण एकवाक्यतामापाद्य तदर्थ निर्णयं विधत्ते, पश्चात् भाविनो वैयाकरणाः साधुशब्दानां संसिद्धौ सहकारित्वं परिभाषासूत्राणां स्वभावमाहुः। भाष्यकारोक्तिमनुसृत्य हरदत्तः पदमञ्जरीग्रन्थे परिभाषा व्याचख्यौ। यथा—"परितः सर्वत्रपूर्वञ्चव्यवहितेचानन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा" इति। एवम् अन्येऽपि वैयाकरणाः महाभाष्यकारस्य प्राथमिकं परिभाषा लक्षणं विस्तार्य परिभाषालक्षणानि विदधुः। यथा—

(क) "परितोव्यापृतां भाषा परिभाषा प्रचक्षते"।

(ख) "भाष्यते परितो यस्मात् परिभाषास्ततः स्मृताः"।

(ग) "परितो भाष्यते या सा परिभाषा"।

(घ) "विधौ नियमकारिणी परिभाषा" इत्यादिः।

महाकविर्माघः शिशुपालवधमहाकाव्ये प्रसङ्गेण परिभाषास्वरूपं प्रदर्शयति। तद्यथा—

"परितः प्रमिताक्षराऽपि सर्वं-
विषयं प्राप्तवतीगता प्रतिष्ठाम्।
न खलु प्रतिहन्यते कदाचित्
परिभाषेण गरीयसी यदाज्ञा"।।

इति। (सर्ग १६ श्लो. ८०)

पाणिनीय अष्टाध्यायीग्रन्थे प्रायः चतुरसहस्राणि-सूत्राणि सन्ति। "अर्थमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः[७]" इति नियममनुसृत्य सूत्रकारेण पाणिनिना लाघवाद् अतः तेषां यथार्थज्ञानार्थं केचननियमाः अपेक्ष्यन्ते। ईदृशानि नियमपराणि सूत्राणि परिभाषासूत्राणि सन्ति। एकमेव परिभाषासूत्रं स्वचिह्नेनयुक्तानां सर्वेषां विधिसूत्राणामर्थनिर्णये उपयुङ्क्ते। अतएव तत्सूत्रं "परितो भाष्यते परिभाषा" इति व्युत्पत्या परिभाषा पदवीं लभते।

"तस्मिन्नितिनिर्दिष्टे पूर्वस्य[८]" इति परिभाषासूत्रम् पाणिनीयसूत्राष्टाध्यायीग्रन्थे यत्र-यत्र सूत्र सप्तमीनिर्दिश्य कार्यं विधीयते यत्र-यत्र कार्यं तदर्थ निर्णये उपयुज्यमानत्वात् परिभाषासूत्रमिति कथ्यते। एवमेव "तस्मादित्युत्तरस्य[९]" इति सूत्रं यत्र-यत्र सूत्रे पञ्चमीविभक्तिं निर्दिश्य कार्यं विधीयते। तत्र तत्रोपस्थाय तदर्थ निर्णये सहकारित्व भजते। अतएव तदपि परिभाषा सूत्रमिति व्यवह्रयते। परिभाषा पदस्य एवमर्थं करणात् महाभाष्यकारः गौणव्यवहारेण निषेधसूत्राण्यपि परिभाषा सूत्राणि मन्यते। यतः तानि निषेध सूत्राणि येषां विधिसूत्राणां निषेधं कुर्वन्ति तानि विधिसूत्राणि कुत्र

प्रवृत्तिमर्हन्ति। कुत्र च प्रवृत्तिं न भजन्ते, एतदर्थं निर्णये तानि निषेधसूत्राण्युपयुज्यपरिभाषास्वरूपं प्राप्नुवन्ति।

(3) विधिसूत्रम्

आदेशादिविधायकं सूत्रं विधिसूत्रम्। तत्र विधिरत्यन्तप्राप्तनत्युक्तत्वात्। अप्राप्तप्रापकोविधिः यथा—''इकोयणचि'' सूत्रेण इक् प्रत्याहारस्थाने अच्प्रत्याहारपरकत्वे सति यण् विधानं कृतः।

''एचोऽयवाभावः'' सूत्रेण एच् प्रत्याहारान्तर्गते ए ओ ऐ औ वर्णानामच्प्रत्याहारपरकत्वात्—ए = अय्, ओ=अव्, ऐ = आय, और, आव् इत्यादि विधानं कृतः।

इत्यादीनि तत्तद्विधायकानि सूत्राणि सिद्धे सति ''आरम्भो नियमार्थं'' इति न्यायेन सिद्धस्य पुनर्विधान-नियमः तद्विधायकानिसूत्राणि सिद्धानि।

यथा—'पति समास एव' अत्र ''शेषोध्यसखि' इति सूत्रेण पतिशब्दस्य समासे-असमासे च 'घि' संज्ञायां सिद्धयाम् अयमारम्भः नियमार्थः सम्पद्यते। 'पति' शब्दं समास एव 'घि' संज्ञः स्यात् इति।

(4) नियमसूत्रम्

प्राप्तस्य विधेर्नियामकं सूत्रं नियमसूत्रम्। यथा—''नलोपसुस्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति'' ''रात्सस्य''। तत्र च ''अन्यत्र प्राप्तौ परिसंख्येतिगीयते'' इति मीमांसा-शास्त्रस्य प्रसिद्धं परिसंख्याविधिमेव वैयाकरणाः नियमविधिरिति व्यवहरन्ति।

(5) अतिदेशसूत्रम्

अतस्मिन् तद्धर्माऽपादकं सूत्रम् अतिदेशसूत्रम्। मीमांसाशास्त्रे—

अन्यत्र विद्यमानायाः कृत्स्नायाधर्मसंहितेः।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेश उच्यते।।

इत्यतिदेश लक्षणं प्रसिद्धम्—अस्यार्थः—एकत्र वस्तूनि विद्यमानानां धर्माणां यत्र कार्यवशाद् अन्यत्रारोपः क्रियते तदा सोऽतिदेशोऽभिधीयते। यथालोके श्रूयते—आचार्यवद् आचार्यपुत्रः प्रवृत्तिः।

''स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'' इति सूत्रेण स्थानिषु विद्यमानानां धर्माणामादेशाय अतिदेशे क्रियते। एवं ''गाङ्कुटादिभ्योऽणिन्डिति'' इत्यादीनि अतिदेश सूत्राणि।

अतिदेशसूत्राणि सप्तविधानि सन्ति

१. कार्यातिदेश—यथा—''स्थानिवदादेशो-ऽनल्विधौ'' ''अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'' इत्यादि।

२. निमित्तातिदेश—यथा—''पूर्ववत्सनः'' ''लुपि-युक्तवत् उक्तिवचने'' इत्यादि।

३. रूपातिदेश—यथा—''द्विर्वचनेऽपि'', ''तृज्व-त्क्रोष्टुः'' इत्यादि सूत्राणि।

४. अर्थातिदेश—यथा—ह्य 'जात्याख्या-यामेक-स्मिन्नबहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्यादीनि सूत्राणि।

५. शास्त्रातिदेश—

६. तादात्म्यातिदेश—यथा—''सुबामंत्रिते'', ''पराङ्वत्से'' इत्यादि।

७. व्यपदेशातिदेश—यथा—''आद्यन्तवदेक-स्मिन्'', ''अन्तादिवच्च'' इत्यादीनि सूत्राणि।

(६) अधिकारसूत्रम्

''उत्तरोत्तरेषु अर्थसम्पर्ककंसूत्रमधिकारसूत्रम्''। ''स्वदेशेफलशून्यत्वेसति उत्तरोत्तरसम्बन्धितत्वमधि-कारत्वम्''। येषां सूत्राणां स्वदेशे किमपि फलं नास्ति किन्तु यान्योत्तरोत्तरसूत्रेषु सम्बद्धानि भूत्वा अर्थबोधं जनयन्ति, तानि अधिकारसूत्राणि उच्यन्ते। यथा—''संहितायाम्'', ''अनभिहिते'', ''अलुगुत्तर-पदे'' इत्यादीन्यधिकारसूत्राणि। तेषु अधिकारसूत्रेषु क्वचिद् व्याख्यानवशाद्विधिर्निदेशः प्राप्यते। यथा—''अङ्गस्य'' ''आकुतोऽयमधिकारः'' ''आपरिसमाप्तेरङ्गाधिकारः'।

॥ द्रष्टव्यम्॥ अलुत्तरपदे आकुतोऽयमाधिकारः, अलुगधिकारः, प्रागानङोत्तरपदाधिकारः, प्रागङ्गाधिकारात्।

क्वचित् अधिकारसूत्रेषु साक्षात्धिनिर्देशमाचार्यपाणिनिः करोति। यथा—प्रागीश्वरन्निपाताः "प्राक्कडारात्समासः" इति। तदेवं पाणिनीयसूत्राणामेषां षण्णांविभागानामन्यतमे विभागे अवश्यमन्तर्भावोऽस्ति।

एवं पाणिनीयसूत्राणां षड्विधत्वं प्रदर्शितं किन्तु कानिचित् सूत्राणि अपवाद सूत्राणि निषेधसूत्राणि च व्याकरणशास्त्रे व्यवह्रियन्ते। तेषां संक्षेपेण स्वरूपमिदानीं प्रदर्शयामः। धातोः प्रातिपदिकाच्च प्रत्ययविधायकानि प्रत्ययविधानादूर्ध्वं प्रत्ययस्य प्रकृतेर्वाप्रयोगानुरूपम् आगमादेशो लोपादि विधायकानि सूत्राणि उच्यन्ते। यानि विधिसूत्राणि प्रायः सर्वत्र सामान्योपयोगं प्राप्नुवन्ति, तान्यूत्सर्गसूत्राणि भवन्ति। क्वचिद् शब्देषु सामान्यसूत्रेण इष्टस्य सिद्धयर्थम् अभावात् तदर्थविशेषविधायकानि सूत्राणि आवश्यकानि भवन्ति विशेषो विहितो विधिरपवादो प्रसिद्धम्। तानि विशेषविधायकानि सूत्राण्यपवादरुपेण व्यवह्रियते, यथा—"आद्गुणः"। अस्यार्थः—अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्। अर्थात् अवर्णात् अचि परे पूर्वपरयोः स्थाने गुण आदेशो विधीयते। अस्ति चापरं सूत्रम्—"वृद्धिरेचि"। अस्यार्थः—आदेचि परे वृद्धिरेकाशः स्यात् गुणापवादः। अनेन "कृष्णैकत्वम्", 'गङ्गौघः', "देवैश्वर्यम्", "कृष्णौत्कण्ठ्यम्" इत्यादि प्रयोगेषु प्राप्तं "आद्गुणः" सूत्रेण गुणं बाधित्वा वृद्धिर्भवति। अत इदमपवादसूत्रम् एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।

पाद टिप्पणी

१. परिभाषेन्दुशेखर, १३३ परिभाषा।
२. अष्टाध्यायी, सूत्र १/१/६६
३. अष्टाध्यायी, सूत्र ६/१/३७
४. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा सं. १३३
५. पा.अ., सूत्रसं. १/१/६६
६. पा.अ., सूत्रसं. १/१/६७



पुराणम्

डॉ. रामऋषि द्विवेदी
सहायक प्रोफेसर
साहित्य विभाग
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्। तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोक-यशोनुगीयते[1]।।

पुराणवाङ्मयमतिविशालमस्ति। न्यायभाष्ये वात्स्यायनेन विषयभेदात् साहित्यस्य त्रयो भेदा अभिहिताः सन्ति—१. यज्ञः, २. लोकचरितम्, ३. व्यवहारव्यवस्थापनञ्च। एषु यज्ञो मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य विषयः। लोकचरितमितिहासपुराणस्य विषयः। तथा व्यवहारव्यवस्थापनं मानवानां पुण्यपापादीनां निर्धारणञ्च धर्मशास्त्रस्याऽस्ति विषयः।

वस्तुतो द्रष्टुः प्रवक्तुश्च दृष्ट्या एषु कश्चनभेदो नास्ति। यतोहि ये ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः सन्ति ते एव इतिहासपुराणयोः धर्मशास्त्रस्यापि द्रष्टारो वक्तारश्च सन्ति। किन्तु एषु विवेचनदृष्ट्या पार्थक्यं निर्णीयते।

यास्काचार्येण स्वनिरुक्ते पुराणेतिहासयोर्निरुक्तिः कृतास्ति यत् "पुरा नवं भवति पुराणम्, तथा इतिहासस्य—इति+ह+आस = इतिहास (इति = एवं प्रकारम्, ह = निश्चयरूपेण, आस = वर्तमानमासीत्)" एवं पुराणशब्दस्यार्थो भवति यत् प्राचीनं सदपि नवीनं स्यात् तत् पुराणम्, तथा इतिहासस्यार्थो भवति—यः प्राचीने काले वास्तविकरूपेण घटितघटनायाः सङ्केतं करोति स इतिहासः (निरुक्तवृत्तौ-२/३/१)[2]।

अमरसिंहेन अमरकोशे इतिहासस्य यल्लक्षणं कृतं वर्तते, तदेव लक्षणं नीलकण्ठेन स्वकीयायां महाभारतटीकायां पुराणस्य कृते विहितो वर्तते। "इतिहासः पुरावृत्तम् (अमरकोश १/५)३ पुराणं पुरावृत्तमिति, महाभारतस्य नीलकण्ठीटीकायाम् (१/५/१)[४]"।

एवं पुराण-शब्दः द्वयोः पुराणेतिहासयोः कृतेऽपि प्रयुक्तो लभ्यते। किञ्चिदस्याख्यानं रूपात्मकं भवेत् तथ्यात्मकं वा स्यात् परं पुराणं प्रोच्यते। अतः पुराणान्तर्गतं पुराणमितिहासश्चोभौ मन्येते। याज्ञवल्क्यस्मृतौ विद्यानां स्थाननिर्देशप्रसङ्गे केवलं पुराणस्य गणना कृताऽस्ति, यत्रेतिहासस्याप्यन्तर्भावो स्वीक्रियते विद्वद्भिः। गर्गसंहितायाञ्च महाभारतं पुराणान्तर्गतमभिमतमस्ति। यथा—तिथीनामेकादशी, नागेषु शेषनागः, पक्षिणां गरुडः श्रेष्ठो गण्यते महाभारतमस्ति श्रेष्ठमिति[५] (७/२१/२७)।

देवीभागवतपुराणे सात्त्विकराजसतामसभेदात् श्रवणस्य त्रैविध्यमुक्तं, वेदशास्त्राणां श्रवणं सात्त्विकं, साहित्यशास्त्रश्रवणं राजसस्तथा युद्धवार्ता परदोष-प्रकाशनपरं शास्त्रश्रवणं तामसं प्रोक्तम्। शास्त्रश्रवणं त्रैविध्यं स्वीकृतम्। मोक्षफलदमुत्तमम्, स्वर्गप्रदं मध्यमम्। भोगदञ्चाधममिति। राजसं श्रास्त्रं साहित्यमपि स्वीयावार-योषापरोढाभेदाच्च त्रैविध्यमेवास्ति, यथा स्वीयायामुत्तमम्, वारवनितायां मध्यमम्, परोढायामधमञ्चेति। तामस-शास्त्रमपि उत्तममध्यमाधमभेदात् शास्त्रविद्वद्भिः त्रैविध्य-मेव प्रतिपादितम्। यथाऽऽततायिभिर्युद्धमुत्तमम्, विद्वेषादरिभिः पाण्डवानां युद्धं मध्यमम्, विवादे कलहे च व्यर्थमेव निर्मितमधममिति।

एषु वेदशास्त्रस्य प्रपूरणात्पुराणं सात्त्विकं शास्त्रं बुद्धिविकासकारि, पापनाशकारि पुण्यप्रवर्द्धनञ्चाभिहितम्। देवीभा.६ (१/६/१०-१७) सर्वे कर्तारस्त्रिगुणात्मका भवन्ति। तेषां श्रद्धया विभिन्ना: कर्मगतय: श्रद्धातारतम्येनैव जायन्ते[७] (श्रीमद्भा. ५/२६/२) संस्कृतटीका।

देवीभागवते वर्णानुक्रमेणाष्टादशमहापुराणानां महात्मभि: कथितानि सन्ति। यथाद्यं मत्स्यपुराणम् द्वितीयं मार्कण्डेयम्, तृतीयं भविष्यम्, चतुर्थं भागवतम्, पञ्चमं ब्रह्मपुराणम्, षष्ठं ब्रह्माण्डपुराणम्, सप्तमं ब्रह्मवैवर्तम्, अष्टमं वामनम्, नवमं वायव्यम्, दशमं विष्णुपुराणम्, दशमं विष्णुपुराणम्, एकादशं वाराहम्, द्वादशं अग्निपुराणम्, त्रयोदशं नारदम्, चतुर्दशं पद्मम्, पञ्चदशं गारुडम्, सप्तदशं कौर्मम्, अष्टादशं स्कान्दञ्चेति।

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं च चतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्[८]।।

(देवीभा. १/३/२)

अस्मिन्नेव प्रकरणे अष्टादशोपपुराणानामपि नामानि परिगणितानि सन्ति। यथा—"प्रथमं सनत्कुमारम्, द्वितीयं नारसिंहम्, तृतीयं नारदीयम्, चतुर्थं शैवम्, पञ्चमं दौर्वाससम्, षष्ठं कापिलम्, सप्तमं मानवम्, अष्टमं औशनसम्, नवमं वारुणम्, दशमं कालिकाख्यम्, एकादशं साम्बम्, द्वादशं नन्दिवृत्तम्, त्रयोदशं सौरम्, चतुर्दशं पाराशरम्, पञ्चदशंमादित्यम्, षोडशंमाहेश्वरम्, सप्तदशं भागवतम्, अष्टादशं वाशिष्ठञ्चेति"[९] देवीभा. १/३/१३/१७।

अष्टादशपुराणवद् अष्टादशसंख्याकानि उपपुराणानि औपपुराणानि च सन्ति। येषां निर्माणं महापुराणानामाधारेण जातमस्ति। प्राचीनकालिकैर्विभिन्नमुनिभिरष्टदशानां महापुराणानां छायामङ्गीकृत्यैवोपपुराणानामौपपुराणानाञ्च रचना कृताऽस्ति। उपपुराणेषु चौपपुराणेषु च यत्र-तत्र सर्वत्र महापुराणानां कथा: संक्षेपीकृता: कुत्रचित् परित्यक्ता:, क्वचिच्च चमत्कारकरणाय विलक्षणानां कथानां सन्निवेशोऽपि विहितोऽस्ति, क्वचित् क्वचित् स्थले नवीनतामानेतुं कथासु प्रायश: पर्याप्तं परिवर्तनमपि कृतमस्ति। एवं वैशिष्ट्ये कृते इमानि उपपुराणानि महापुराणवदेव सदाऽऽदरणीयानि स्पृहणीयानि मान्यानि श्रद्धासमन्वितानि च सन्ति। यतस्तानि समस्तान्युपपुराणानि तत्तन्महापुराणेभ्य एव सार नीत्वा तत्तद्प्रज्ञावद्भिर्मुनिभि: रचितानि सन्ति, यस्य निर्देशो विभिन्नेषु महापुराणेषूपलभ्यते—

अष्टादशभ्यस्तु पृथक पुराणं यत् प्रदृश्यते।
बीजानीभ्यं द्विजश्रेष्ठास्तथा तेभ्यो विनिर्गतम्[१०]।।

(मत्स्यपु. ५३/६३)

विष्णुमहापुराणे महापुराणानां परिचयप्रदानावसरे निर्दिष्टमस्ति यत् अष्टादशमहापुराणातिरिक्तानि यानि पुराणानि समुपलभ्यन्ते, तानि विभिन्नैर्मुनिभि: कृतान्यवगन्तानीति—

"महापुराणान्येतानि ह्यष्टादशमहामुने।
तथा चोपपुराणानि मुनिभिर्कथितानि च"[११]।।

(विष्णु. ३/६/२४)

इत्थं महापुराणेभ्योऽतिरिक्तानि यान्यन्यानि पुराणानि समुपलभ्यन्ते तानि सर्वाणि तेभ्य एव समागतानीति ज्ञातव्यानि। अत उपपुराणानां स्रोतांसि महापुराणान्येव विद्यन्ते नास्त्यत्र कोऽपि सन्देहलेश:। अतएव तुल्यन्यायेन महापुराणानामिव समस्तानामुपपुराणानामपि प्रामाण्यं स्वीक्रियन्ते भारती-यैर्मनीषिभि:—

"अन्याश्च संहिता: सर्वा मरीचिकपिलादय:।
सर्वत्र धर्मकथने तुल्यसामर्थ्यमुच्यते"।।

स्कन्दमहापुराणानुसारं तूपपुराणानि साक्षाद् ब्रह्मणैव प्रोक्तानि सन्ति। तथैवोपपुराणानि यानि चोक्तानि वेधसा१२। (स्कन्दमहापु. रेवाख. १/४२)

कतिपय विद्वांस: कथयन्ति यत् यथा महापुराणानां संख्या अष्टादश निर्धारिता: सन्ति, तद्वदुपपुराणानां संख्या न निश्चिता वर्तते। यतोहि अष्टादश उपपुराणेभ्योऽप्यन्यानि पुराणानि प्राप्यन्ते। अतएवोपपुराणानां निश्चिता

वर्तते। यतोहि अष्टादश उपपुराणेभ्योऽप्यन्यानि पुराणानि प्राप्यन्ते। अतएवोपपुराणानां निश्चिता संख्या नास्तीति किन्तु मतमेतं नास्ति समीचीनम्। यतो हि महापुराणानामिवोपपुराणानामपि संख्या अष्टादश एव निर्धारिताः सन्ति। अतोऽष्टादशमहापुराण वदष्टादशानि दरीदृश्यन्ते उपपुराणानि। एवञ्च यथाऽष्टादशानि महापुराणानि सन्ति, तद्वदष्टादशसंख्याकानि सन्त्युपपुराणान्यपीति नास्त्यत्र कश्चन सन्देहः। ब्रह्मवैवर्तमहापुराणे उल्लिखितमस्ति यत्—

"अष्टादशपुराणनामेवमेवं विदुर्बुधाः।
एवञ्चोपपुराणानामष्टादशप्रकीर्तिताः"।।[१३]

(ब्रह्मवैवर्तमहा. श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३१/२२)

उपपुराणानां गणनाऽवसरे तानि सन्ति अष्टादशसंख्यकानि इति पुनरपि दृढीकर्तुं स्कन्दमहापुराणेऽभिहितम् "पाराशरं भागवतं कौर्मञ्चाष्टादशं क्रमात्"[१४]। (स्कन्दमहापु. रेवाखण्डे १/५८)

यथा महापुराणानि सनातनार्मावलम्बिनां जीवनस्यास्तिप्रधानाधारं तथैवोपपुराणान्यपि प्राचीनभारतीयगौरवचिन्तनस्य विकासे सर्वोपकारिण्या अनन्यासाधारणाया भारतीये संस्कृतेः प्रचारे-प्रसारे च ऐतिहासिक तत्त्वस्योन्नयने, धार्मिक व्यवस्थायाः प्रसारे, वर्णाश्रमव्यवस्थायां संरक्षणे चातीवोपादेयानि सन्ति। उपपुराण्येतानि महापुराणेभ्य एव निर्गतत्वान्महापुराणानामुपभेदा विद्यन्ते, न तानि स्वतन्त्रग्रन्थरूपाणीति प्रमाणयति मत्स्यपुराणम्। तथाहि—

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिताः[१५]।

(मत्स्यपु. ५३/५९)

यथेन्द्रापेक्षयोपेन्द्रोऽपि न्यूनतां नाप्नोति तद्वदेव महापुराणानामपेक्षयोपपुराणान्यपि किमपि न्यूनत्वं नाप्नुवन्ति, यतोहि उपपुराणेषु प्रायशः एकैकं कमपि देवविशेषमुद्दिश्य तन्महात्म्यं विशदया विशदीकृतमस्ति। यद्यपि महापुराणेष्वपीयं प्रक्रियोपलभ्यते। यथा वैष्णवपुराणेषु भगवतो विष्णोः, शैवपुराणेषु भगवतः शिवस्य, शाक्तपुराणेषु च भगवत्या शक्त्या एव माहात्म्यातिशयः समुपवर्णितोऽस्ति, तथैवोपपुराणेऽपीयं प्रक्रिया विशेषतोऽनुष्ठिता विद्यते।

स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतो यद्मूलभूतमेकं परं ब्रह्मैव मुख्यतया उपास्यं विवक्षितं तत्र स्वरूपतः सम्भवति। यतोहि तस्य "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "यन्मनसा न मनुते" इत्यादिभिः श्रुतिभिः वाङ्मनसोरविषयताया स्पष्टमुद्घोषितत्वात्। अतस्तस्मिन् मनोनिवेशस्तदुपासनमितिनियमात् मनोवाग्विषयस्यावगाहनस्यासम्भवे, तत्र न मनोनिवेशः कर्तुं शक्यः, नापि तस्य वचसा स्तुतिः सम्भवति, अस्माद्धेतोः सगुणसाकाररूपाणि अधिकारिभेदात् पञ्चविधानि तत्तच्छास्त्रेषु निरूपितानि सन्ति। यथा सर्वलोकपालकः भगवान् विष्णुः, सकलसंहारको भगवान् शिवः, जगज्जननी शक्तिः, विश्वस्यात्मा भगवान् भास्करः, विघ्नविघातको भगवान् गणपतिश्च। एषु विशिष्टेषु पञ्चसु देवेषु कस्मिश्चिद् एकस्मिन् देवे स्वकीयरुच्यनुसारं ब्रह्मबुद्धिर्विधेया उपासकेन। येनोपासकेन यो देवः परब्रह्मतया भाव्यते स एव तद्दृष्टौ सर्वतः प्रधानम्, अन्ये च देवा तदनुगामिनो भवन्ति। अनेकेषु देवेषु परब्रह्मतया भाषितेषु सम्यगुपासना न भवितुमर्हति। यतोहि मनस एकाग्रतैवास्ति उपासनाया वास्तविकं फलम्। अनेकत्र च निवेशितं मन एकाग्रं भवितुं नार्हति। तस्माद् तत्र मनसः स्थैर्याभावाद् ब्रह्मबुद्धिरेकस्मिन्नेव विधेया, परमितरेषु च देवेषु विद्वेषो न करणीयः। परब्रह्मतया भावितो देव एव सर्वतो मुख्य इत्येव महापुराणोपपुराणौपपुराणेषु प्रख्यापितम्। अत एवोक्तं पतञ्जलिना "यथाभिमतध्यानाद्वा"[१६] (पातञ्जलयोगदर्शने २/२४) यस्याधिकारिणः स्वभावाद् यत्र देवे अभिरुचिः स एव देवस्तेन ध्यातव्य इति निष्कर्षः।

तदित्थं विभिन्नतया मनोनिवेशार्थं स्वीकृतेषु अनेकेषु देवेषु वैष्णवपुराणेषु विष्णुरेव सर्वश्रेष्ठो मन्यते।

तदाज्ञयैवान्ये देवा स्व-स्वकार्येषु प्रवर्तन्ते। शैवपुराणेषु भगवान् आशुतोष एव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वथा समर्थोऽस्ति निरूपितः। शाक्तपुराणेषु जगदधिष्ठात्री आद्या शक्तिरेव सर्वं विधातु समर्थेति कथिताः, तदनुकाम्ययैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अपि सृष्टि-पालन-संहारकार्येषु प्रभवो भवन्ति। सौरेषु पुराणेषु भगवान् भास्कर एव समस्तविश्वस्यात्मत्वेनाख्यातो जगज्जालं सञ्चालयति। गाणपत्योपपुराणेषु च भगवान् गणपतिरेव परब्रह्मतया ध्यातुमिष्टः। तत्र मुद्‌गलपुराणे ऋद्धिः सिद्धिश्चेतीमे द्वे गणपतेः भार्यात्वेन निरुपिते स्तः। यदा गजः स्वीयं शुण्डादण्डं स्वमुखे निवेश्य निमिलितनयनो भवति, तदा मण्डलाकारं तन्मुखमेकरूपं दृश्यते, न च तस्यावयवभेद प्रतीयेत इति निर्विकल्पक-समाधिसाम्यमभिहितम्। केवल वेद्यविषयाकाराकारैव वृत्तिर्भवति इति एकदन्तरूपेण तदेव सूचितम्। तद्विग्रहे विभिन्नावयवप्रतीत्या तस्य संसाररूपता प्रस्फुटैव प्रतिभाति। चतुर्भिभुजैश्चतुर्दिग्व्याप्तिः संसूच्यते। गणपतेश्चतुर्षु करेषु चत्वारि पाशाङ्कुशमोदककमलानि चिह्नानि चतुर्विधानां धर्मार्थकाममोक्षाणां सूचकानि सन्ति। तत्राङ्कुशो धर्मरूपोनियन्त्रित्वेन धर्मस्याङ्कुशसाजात्येन प्रवृत्तिदर्शनात्। पाशोऽर्थरूपः अर्थरूपेण पाशेनैव जीवानां विशेषतो वन्धनदर्शनात्। मोदकं कामरूपं, तात्कालिक-सुखरूपमोदहेतुत्वात्। कमलं जले वर्तमानमपि न मनाग्जलेन संश्लिष्यते इति मोक्षरूप तद्भगवतो गणपतेर्हस्ते विराजितम्। एनं यथाधिकारमुपासकैः सेवमानो भगवान् गणपतिश्चतुरोऽपि पुरुषार्थान् भक्तेभ्यो नूनं प्रददाति इति सर्वसिद्धिकरत्वं तस्य सुस्पष्टमेवास्ति। यथा मूषकः पृथिव्यां प्रच्छन्ना एव निवसति, प्रच्छन्न एव च वन्धनानि छिनत्ति तथैव ब्रह्मरूपो गणपतिरपि समेषां प्राणिनामन्तर्निगूढो निवसति। प्रच्छन्नः सन्नेव भक्तानां विघ्नव्यूहांश्च छिनत्तीति गणपतेर्मूषकवाहनस्यापि परं रहस्यम्। गणपतेः शरीरं संसाररूपं संसारिणां चोदरं दुष्पूरं भवति। बहुतरे भोगेऽपि तत्र शान्तेरभाव-दर्शनात्। अत एव तस्योदरं बहुविस्तृतं दृश्यते। अत एवोक्तं भगवतो गणपतेः स्तुतौ ''लम्बोदरं परमसुन्दर-मेकदन्तमिति''। ब्रह्मरूपो गणपतिः संसारिणाम् उदरं प्रविश्य भुक्तमन्नपानादिकं सर्वं सम्यक् पाचयति।

श्रीमद्भगवद्गीतायां गणपति अस्मिन्नेव भगवता श्रीकृष्णेनाभिधानात्—

''अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणपानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम्''[१४]।।

(गीता १५/१४)

तस्मात् परेषां उदरं प्रविश्य भोगकरणात्तस्य महदुदरत्वं ख्याप्यते। एवं भगवतो गणपतेः स्वरूपं तत्र स्थाने निरूपितं विद्यते। यत्र तत्र विचित्राभिः कथाभिश्च गणपतेरेव पञ्चसु देवेषु प्राधान्यं प्रख्यापितम्।

अथैकदा विश्वस्यात्मानं भगवन्तं भास्करं ध्याननिरतं विलोक्य तद्स्थाने सहैवभ्रमद्भिर्वालखिल्यैः—''भवान् कमभिध्यायतीति साश्चर्यं पृष्टे सति, स गणपतिरस्माकं सर्वेषामधिष्ठाता, स एव परं ब्रह्म, तदाज्ञयैव वयं सर्वे तत्तत्कर्मसु प्रवर्तामहे। तमेवाहमभिध्यायामीति'' भगवतः सूर्यस्योक्त्या गणपते परं ब्रह्मत्वं साधितम्।

एवं गणपत्यौपपुराणेषु गणपत्युपासनया विविधं फलं प्रदर्श्य रामकृष्णयुधिष्ठिरादीनामपि गणपत्युपासनं निर्दिष्टम्। अतो शिवमहिम्नस्तोत्रे—रुचीनां वैचित्र्या-दृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पथसामर्णव इव''।। इति पुष्पदन्ताचार्यभणितिनिर्देशात् पुराणोपपुराणौपपुराणानि आश्रित्य स्वस्वरुच्यनुसारं यस्मिन् कस्मिन्नप्येकस्मिन् देवे परब्रह्मबुद्धिं विधाय तदुपासनया साधकैः आत्मकल्याणं करणीयमिति पौराणिकानां विपश्चितां पारमार्थिकोऽस्ति पन्थाः।

''तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः''[१८]।।

(श्रीमद्भा. ३/९/६)

पादटिप्पणी

१. श्रीमद्भा. १२/१२/४९
२. निरुक्त वृत्तौ २/३/१
३. अमरकोशः १/५
४. महाभारतस्य नीलकण्ठीटीकायाम् १/५/१
५. गर्गसंहितागोलोकखण्डे ६/२१/२६
६. देवीभा. १/६/१०-१७
७. श्रीमद्भा. ५/२६/२
८. देवीभा. १/३/२
९. देवीभा. १/३/१३-१७
१०. मत्स्यपु. ५३/६३
११. विष्णुपु. ३/६/२४
१२. स्कन्दमहापुराणे रेवाखण्डे १/४२
१३. ब्रह्मवैवर्तमहापुराणे-श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३१/२२
१४. स्कन्दमहापुराणस्य रेवाखण्डे १/५८
१५. मत्स्यपुराणम् ५३/५९
१६. पातञ्जलयोगदर्शने २/२४
१७. श्रीमद्भगवद्गीता १५/१४
१८. श्रीमद्भा. ३/९/६

साङ्ख्योक्तप्रकृतितत्त्वसमीक्षा

सदाशिव तिवारी
—शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

साङ्ख्यसूत्रे—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था-प्रकृतिः[१]" इति प्रतिपादितमस्ति। सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि प्रकृतिस्वरूपाधायकानि विज्ञेयानि। तेषां संयोगविभागलघुत्वगुरुत्वादिगुणवत्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तेषां सत्त्वरजस्तमसां या अन्यूनातिरिक्ता च संहतावस्था अकार्यानुकूला सैव प्रकृतिरित्यर्थः।

वस्तुतस्तु—अकार्यावस्थोपलक्षित गुणसामान्य प्रकृतिरिति लक्षणं योग्यम्।

अत्र लक्षणे या साम्यावस्था वर्त्तते, तस्या एवं ग्रहणे वैषम्यावस्थायां प्रकृतिनाशापत्तिर्भवति। अतः साम्या-वस्थाऽत्रोपलक्षणरूपैवेति ज्ञेयम्। तदुक्तम्—"तेषां सत्त्वादिद्रव्याणां या साम्यावस्था अन्त्युनातिरिक्तावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थेति यावत् अकार्यावस्थेति निष्कर्षः, अकार्यावस्थापलक्षितं गुणसामान्यं प्राकृतिरित्यर्थः, यथाश्रुते वैषम्यावस्थायां प्रकृतिनाशप्रसङ्गात्।

सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः सदा।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारे परं पदम्"[२]।।

इत्यादिस्मृतिभिर्गुणमात्रस्यैव प्रकृतित्ववचनाच्च। एतदेव सांख्यतत्त्वविवेचनेऽपि प्रपञ्चितं विशेषेण विदुषा। तद्यथा—"प्रकृतित्वं च साक्षात्परम्परयाऽखिलविकारोपादानत्वम्"। व्युत्पत्तिस्तु प्रकृष्टा परिणामरूपा आकृतिरस्या इति। सा साम्यावस्थोपलक्षितसत्त्वादिद्रव्यत्रयरूपा। साम्यावस्था च शान्तघोरमूढादिरूपाणामपि असमुदायवद्रुपत्वेऽप्यतिशयैः समुदायवद्भिरविरोधेन वर्तमानत्वं सामान्यात्मना गुणभावोऽतिशयात्मना प्राधान्यं विशेषात्मना वैषम्यमित्यतो न्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थाऽकार्यावस्थति यावत्[३]।

साङ्ख्यतत्वयाथार्थ्यदीपने चोक्तं यथा—"साम्यावस्थापलक्षिता गुणाः प्रकृतिरित्येकं लक्षणं च। अकार्या गुणा इत्यपरम्[४]। 'सूक्ष्मलिङ्गमचेतनमनादिनिधनं तथा प्रसवधर्मि निरवयवमेकमेव साधारणमेतदव्यक्तमिति प्रकृतिलक्षणम्[५]' इति तत्त्वसमाससूत्रवृत्तौ निर्दिष्टमस्ति।

साङ्ख्यतत्वप्रदीपिकायां प्रकृतेः स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं च पृथक् पृथङ्निर्दिष्टमस्ति। तद्यथा—सत्त्वादित्रिगुणा नित्येति प्रकृतिस्वरूपलक्षणम्। तटस्थलक्षणं तु जगदुपादानकारणं प्रकृतिरिति।

प्रकृतेः पर्यायाः—अव्यक्तम्, प्रकृतिः, माया, प्रधानम्, ब्रह्म, कारणम्, अव्याकृतम्, तमः, पुष्पम्, क्षेत्रम्, अक्षरम्, बहुधात्मकम् इत्येते वर्णिताः सन्ति। तद्यथा—

अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम्।
अव्याकृतं तमः पुष्पं क्षेत्रमक्षरनामकम्।।
बहुधात्मकादिनामानि तस्यामी ते जगुर्बुधाः[६]।।

साङ्ख्यतत्वयाथार्थ्यदीपने—अव्यक्तम्, प्रधानम्, ब्रह्म, अक्षरम्, क्षेत्रम्, तमः, माया, ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, प्रकृतिः, शक्तिः, अजा इत्येते प्रकृतेः पर्यायाः निरूपिताः सन्ति[७]।

तत्त्वसमाससूत्रवृत्तौ च पर्यायाः प्रकृतेः निरूपिताः सन्ति। तद्यथा—अव्यक्तम्, प्रधानम्, ब्रह्म, परम्, ध्रुवम्, बहुधानकम्, अक्षरम्, क्षेत्रम्, तमः, प्रसुतमिति[८]।

प्रकृतिसिद्धिः

साङ्ख्यदर्शने पदार्थानां ज्ञानाय त्रीण्येव प्रमाणानि सन्ति अभ्युपगतानिप्रत्यक्षमनुमानमाप्तवचनं चेति। तत्र प्रत्यक्षम्—अतिदूरस्थातिनिकटस्थानाम्, सूक्ष्माणाम्। व्यवहितानाम्, अभिभूतानाम्, मिश्रितानां च ग्रहणेऽकल्पमित्यतः सर्वेषां पदार्थानां ज्ञाने साधकं न भवितुमर्हति। वस्तूनां प्रत्यक्षज्ञाने इन्द्रियाणामदुष्टत्वं मनस्संयोगश्च परमावश्यकः। प्रत्यक्षेणागृहीता विषया अनुमानागमाभ्यां गृह्यन्ते।

पदार्थानामनुपलब्धिर्द्विविधा भवितुमर्हति—पदार्थस्य सूक्ष्मत्वातिदूरस्थत्वादिजन्या, अभावजन्या च। तत्र सूक्ष्मताऽपि द्विविधा—स्वाभाविकी, अवस्थाभेदजा चेति। परमाणूनां सूक्ष्मता स्वाभाविकी। दूरावस्थानात् प्रतीयमाना अवयवविश्लेषजन्या वा सूक्ष्मता अवस्थाभेदजा। तत्र स्वभावतः सूक्ष्माणामतीन्द्रियाणाञ्चानुमानेन श्रुत्यादिरूपागमेनैवोपलब्धिः।

साङ्ख्यमते सर्वस्य व्यक्तसमूहस्य महदादेर्हेतुभूता या प्रकृतिरस्ति, साऽपि परमसूक्ष्माऽतीन्द्रिया चेति, तस्याः सत्त्वमनुमानेनाप्तवचनेनैव साध्यं भवति। तदुक्तम्—

(क) 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः'[९]।

(ख) 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः', 'सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः'[१०]।

तस्य प्रधानस्यानुपलब्धिरनवगमः सौम्याद् हेतुर्नाभावात्। सूक्ष्मं प्रधानं शब्दार्थलक्षणत्वात् परमाण्वादिवत्। न पुनरेवं यन्नास्ति प्रधानमतो नोपलभ्यते। किं तु अस्ति प्रधानं नोपलभ्यते सौम्यात् परमाण्वादिवत्।

प्रकारान्तराभावात् सूक्ष्मत्त्वात् सतोरपि तयोरनुपलब्धिः। तत्त्वभावादेव कस्मादनुपलब्धिर्न भवति? यथा घटस्योत्पत्तेः प्राङ् मृदि तस्य प्रागभावात्, खर्परादिषु तस्य प्रध्वंसाभावात्। गवि अश्वत्वस्याश्वत्वे गोत्वस्येतरेतराभावात्, बन्ध्यासुतस्य वाऽत्यन्ताभावादित्याह—नाभावादिति। चतुर्विधादित्यर्थः। यद्येवं कथं तौ स्तः इति गम्यत इत्याह कार्यतस्तदुपलब्धेरिति[११]।

अनुमानं च हेतुज्ञानाधीनम्। तस्मात् प्रकृतेरनुमानाय हेतवः पञ्च निर्दिष्टाः सन्ति। तद्यथा—

- भेदानां परिमाणात्।
- समन्वयात्।
- शक्तितः प्रवृत्तः।
- कार्यकारणविभागात्।
- वैश्वरूप्यस्याविभागाच्चेति[१२]।

भिद्यन्ते परस्परं स्वलक्षणैरिति महदादीनि त्रयोविंशतितत्त्वानि भेदा इहोच्यन्ते। ते च भेदाः सन्ति परिमिताः। यानि तत्त्वानि परिमितानि भवन्ति, तेषां कारणमपरिमितमन्यल्लोके दृश्यते। महदादीनां परिमितत्वदर्शनातेषामन्येनापरिमितेन हेतुना भवितव्यमित्यनुमीयते। अनुमानप्राकारश्च—परिमिता महदादयो व्यापककारणवन्तः, परिच्छिन्नत्वात्। घटादिवदिति। अत्र यद् व्यापकं कारणं तदेव प्रधानम्। तदुक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—परिमितत्त्वाद् अव्यापित्त्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात्, घटादिवत्। घटादयो हि परिमिताः, मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः। उक्तमेतद्यथा कार्यस्याव्यक्तावस्था कारणमेवेति। 'यन्महतः कारणं तत्परमाव्यक्तम्, ततः परतराव्यक्तकल्पनाया प्रमाणाभावाद्'[१३] इति।

माठरवृत्तौ च अस्ति प्रधानम्, कस्मात्? भेदानां परिमाणात् लोके। यस्य कर्ताऽस्ति तस्य परिमाणं दृष्टम्। यथा कुलालः परिमिताद् मृत्पिण्डान् परिमितमेव घटं कुरुते प्रस्थग्राहकमाढकग्राहकं वा। एवं व्यक्तं परिमितम्। एका बुद्धिरकोऽहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इति त्रयोर्विंशतिकम्।

एवमेतत् परिमितं व्यक्तं दृष्ट्वाऽनुमानेन साधयामोऽस्त्यस्य कारणं प्रधानं व्यक्तं परिमितमुत्पादयति। यदि च प्रधानं कारणं न स्यात्, निष्परिमाणमिदं व्यक्तं स्यात्। अस्ति चास्य परिमाणम्, तस्मादस्ति प्रधानमिति[१४]।

भिन्नत्वेन भासमानेषु पदार्थेष्वेकस्या जातेः समानत्वजनिकाया योऽनुभवः स समन्वयः। महदादिषु च व्यक्तेष्वध्यवसायादिलक्षणेषु सुखदुःखमोहात्मकत्वेनान्वयदर्शनात् कटकस्वर्णपिण्डयोरनुगतसुवर्णत्ववत् तेषां व्यक्तानां तथाविधेन हेतुना केनाप्येकेन भवितव्यमित्यनुमीयते। तत्प्रकाराश्च यथा—"विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, समन्वयात्, मृद्धेमत्पिण्डसमनुगतघटमुकुटादिवत्" इति। तदुक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—

"भिन्नानां समानरूपता समन्वयः। सुखदुःखसमन्विता हि बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते। यानि च यद्रुसमनुगतानि, तानि तत्स्वभावव्यक्तकरणकानि, यथा मृद्धेमत्पिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो मृद्धेमत्पिण्डाव्यक्तकारणका इति कारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम्"[१५]।

जयमङ्गलायाञ्च—"समन्वयात् भेदानामिति वर्तते। समन्वयोऽनुगमः। एकजात्यनुगुमादित्यर्थः। ये एकजात्यनुगता भेदास्तेषामेमेव तथाभूतं कारणं दृष्टम्। यथा कटककेयूरादीनां सुवर्णपिण्डः। यथा वो शरावादीनां मृत्पिण्डः।

एवमेषामपि बाह्याध्यात्मिकानां सुखदुःखमोहानुगतत्वादेकेन तथाविधेन भवितव्यम्। य एषां समुदायस्तत् प्रधानमिति सामान्यतो दृष्टम्[१६] इति।

कारणे या शक्तिरस्ति तन्मूला एव कार्यस्योत्पत्तिर्भवति। न ह्यशक्तं कारणं कार्यमुत्पादयति। अत्र शक्तिपदेन कार्यस्याव्यक्तावस्था ग्राह्येति वाचस्पतिमिश्रः। व्यक्तानां महदादीनामुत्पत्तिनिमित्तं शक्तिरपेक्षिता। सा च निराश्रया न भवति। यथासावाश्रयस्तदेवाव्यक्तम्। अनुमानप्रकारस्तु—प्रधानं यांवत्कार्य निरूपितकारणतावद् महदादिकायं जातिव्यक्तत्वावस्थावत्त्वादिति कृष्णवल्लभाचार्यः स्वामिनारायणभाष्ये। तदुक्तम्—कारणशक्तिः कार्य प्रवर्तते इति सिद्धम्, अशक्तात् कारणात् कार्यस्यानुत्पत्तेः। शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या। न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तानां अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति, अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमरत्यना-गतावस्थे न सिकतास्विति[१७]।

इह कुलालादिशक्तिपूर्विका घटादीनां प्रवृत्तिर्दृष्टा नाशक्तिपूर्विका एषामपि बाह्याध्यात्मिकानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। ततश्च प्राक् प्रवृत्तेर्जनितया शक्त्या भवितव्यम्। यासौ शक्तिः सैवाव्यक्तभावमापद्यत इति सामान्यतो दृष्टम्[१८]।

यत्करोति यतो वा किञ्चिदुत्पद्यते तत्कारणम्। यच्चोत्पद्यते तत्कार्यम्। कारणं कार्यञ्च परस्पर भिद्यते। यत् कार्येण साध्यते, तन्न कारणेनापि साध्यते। कारणं कार्यरूपमापद्यते। इत्थं कारणस्य कार्यस्य च विभागदर्शनाद् व्यक्तादीनां कार्याणां कारणं तत्त्वान्तरं कल्प्यते। यत् कारणं तदेवाव्यक्तमिति।

तदुक्तम् करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यम्, तयोर्विभागस्तस्मात्। तद्यथामृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम्। स एव हि मधूदकपयःप्रभृतीनां धारणे समर्थः, न तु मृत्पिण्डः। एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्विभागः। अन्यद् व्यक्तं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतपर्यन्तम्, तच्च कार्यम्। अन्यच्च—अव्यक्तं प्रधानं विपरीत कारणमिति तस्मादस्ति प्रधानम्[१९]।

कारणे सत् कार्यमिति स्थितम्। तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति, विभज्यन्ते—इदं कूर्मशरीरम्, एतान्येतस्याङ्गानि इति। एवं निविशमानानि तस्मिन्नव्यक्ती भवन्ति। एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते। सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्रादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्,

सन्नवाहङ्कारः कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्तात् साक्षात्पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य कार्यस्य विभागः[२०]।

कार्याणि स्वकारणेषु लीयमानान्यविभागमापद्यन्ते। तेषामनेकविधकार्याणामविभागदर्शनादपि प्रधानमस्ति। तदुक्तम्—प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डे सुवर्णपिण्डं वा घट-मुकुटादयो विशन्तोऽव्यक्ती भवन्ति। तत्कारण-रूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्य-व्यक्तयन्ति। एवं तन्मात्राण्यहङ्कारं विशन्त्यहङ्कारम-व्यक्तयन्ति। एवमहङ्कारो महान्तमाविशन् महान्तम-व्यक्तयति, महान् प्रकृति स्वकारणं विशन् प्रकृतिम-व्यक्तयति। प्रकृतेस्तु न क्वचिद् निवेश इति सा सर्वं कार्याणामव्यक्तमेव[२१]।

जयमङ्गलायानतु एतद्विषयेऽन्येनैव प्रकरणे व्याख्यातमस्ति—अविभागाद्वैश्वरूप्यस्येति। न विद्यते विभागोऽस्येत्यविभागः। अविमुक्तादित्यर्थः। तस्माद्वैधरूप्यस्योपलब्धेरिति शेषः। इह लोके अविभक्ता-देकस्मादिक्षुद्रव्याद्रसफाणितगुडखण्डशर्करादिवेश्वरूप्यं नानात्वं दृश्यते। तथैकस्माद् दुग्धाद्धिनवनीतघृतादिः वैश्वरूप्यमुपलभ्यते। एवमाध्यात्मिकानां बाह्यानां च वैश्वरूप्यम्। तस्मादेतेषामविभक्तेनैकेन भवितव्यमिति सामान्यतो दृष्टम्।

अन्यस्त्वाह—अविभागे वैश्वरूप्यस्येति। अविभागो लयः, वैश्वरूप्यं जगद् नानारूपत्वात्। प्रलयकाले वैश्वरूप्यं क्व लीयते स्थित्युत्पत्तिप्रलयाज्जगत इति। न चेश्वरे लयनं सम्भवति, तस्य निर्गुणत्वेनाभ्युपगमात्। तस्मादन्यथानु-पपत्त्यास्ति तदेकमिति। तथा चाहुः—

प्रधानादानुपूर्वेण सृष्टिलोकस्य संसरः।
प्रधानात् प्रातिलोभ्येन पुनस्तत्रैव चत्वरः[२२]।।

साङ्ख्यसूत्रे प्रवचनभाष्ये च प्रकृतेः कार्येणान्तः-करणेनानुमानं भवतीति प्रातिपादितमस्ति। तद्यथा—ततः प्रकृतेः। ततो महत्तत्त्वात् कार्यात् कारणतया प्रकृतेरनुमानेन बोध इत्यर्थः। अन्तःकरणसामान्यस्यापि कार्यत्वं तावदेकदा पक्षेन्द्रियज्ञानानुपपत्त्या मध्यम-परिमाणतया देहादिवदेव सिद्धं श्रुतिस्मृतिप्रमाण्याच्च।

तस्य च प्रकृतिकार्यत्वेऽयं प्रयोगः—सुखदुःख-मोहधर्मिणी बुद्धिः सुखदुःखमोहधर्मकद्रव्यजन्या कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात् कान्तादिवदिति। कारण-गुणानुसारेणैव कार्यगुणौचित्यं चात्रानुकूलस्तर्कः श्रुति-स्मृतयोऽपीति मन्तव्यम्।

अपि च कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याप्यव्यक्त-सिद्धिर्भवतीति वर्तते कारिकाशयः। तद्यथा—

''कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्''[२३] इति।।

कारणस्य गुणाः, कारणगुणास्ते आत्मा=स्वभावो यस्य तद्भावः कारणगुणात्मकत्वम्। आत्मशब्दः स्वभावे वर्त्तते। कारणगुणस्वभावत्वात् कार्यस्य। इह लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकमेव कार्यमपि भवति। कारणानु-गतत्वात् कार्यस्य। यथा कटुनिम्बवृक्षात् कटुरेव रसो भवति। मधुराच्च मधुरो द्राक्षादिरसः। कार्यं हि कारण-गुणात्मकः दृष्टम्, यथा तत्त्वादिगुणात्मकं पटादि। तथा महदादिलक्षणेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धं भवति।

पादटिप्पणी

१. साङ्ख्यसूत्र १.१
२. साङ्ख्यप्रवचनभाष्य १.६१
३. साङ्ख्यतत्त्वविवेचनसूत्र १
४. साङ्ख्यतत्त्वयाथार्थदीपनम् १
५. तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः १
६. साङ्ख्यतत्त्वविवेचनसूत्र १
७. साङ्ख्यतत्त्वयाथार्थदीपनम् १
८. तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः १
९. साङ्ख्यकारिका ८
१०. साङ्ख्यसूत्र १.१०३, १०९-११०
११. साङ्ख्यकारिकाजयमङ्गला ७
१२. साङ्ख्यकारिका १५
१३. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी १५
१४. साङ्ख्यकारिकामाठरवृत्तिः १५
१५. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी १५
१६. साङ्ख्यकारिकाजयमङ्गला १५
१७. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी १५
१८. साङ्ख्यकारिकाजयमङ्गला १५
१९. साङ्ख्यकारिकामाठरवृत्तिः १५
२०. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी १५
२१. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी १५
२२. साङ्ख्यसूत्र १.१६५
२३. साङ्ख्यकारिका १४

सन्दर्भग्रन्थसूचीः

१. तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी १९३६
२. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्सस्, नई दिल्ली-१९९८
३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्राकाशन, नई दिल्ली, २००७
४. सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी १९८४
५. साङ्ख्यकारिका, पं. शिवनारायण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, १९४०
६. साङ्ख्यकारिका, गौडपादकारिका, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९९६
७. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, रामशङ्कर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, १९७८
८. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९३
९. साङ्ख्यकारिका, माठरवृत्ति, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९९४
१०. साङ्ख्यकारिका, जयमङ्गला, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९९७
११. साङ्ख्यकारिका, गौडपादभाष्य, विमला कर्नाटका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी २००३

लोक-संस्कृति में यक्ष पूजा की परम्परा

डॉ. आद्या प्रसाद द्विवेदी
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
सतीशचन्द्र पी.जी. कालेज, बलिया (उ.प्र.)

आभिजात्य संस्कृति ने जब सभ्यता के आवरण में अपने को इतना आच्छादित कर लिया कि सामान्य जन से उसका सम्पर्क कट गया तब अशिक्षित सामान्य जनमानस ने अपने युग-युग के संचित आदर्शों को अपने हृदय के रक्त से सींचकर जीवित रखा। मस्तिष्क के अहंकार में जब सम्पन्न एवं सभ्य वर्गों के पाँव डगमग हो गये तब शताब्दियों की अमृत ज्योति को देशों के अगणित जनपदों में फैले अदृश्य हृदयों की स्नेह धारा प्राप्त हुई। तब लोक का जीवन अगणित तरंगों में बहा, अगणित वाद्यों में बजा और अगणित गीतों और कथाओं में फूट पड़ा। यही सब समष्टिगत आत्म प्रकाश लोक-संस्कृति है। इसमें लोक मानस का अमृत अकृत्रिम रूप में विद्यमान है इस लोक संस्कृति का क्षेत्र बहुत ही विशाल एवं बहुआयामी है। भारत देश की लोक संस्कृति की श्रृंखला अतीत काल से चली आ रही है। इसने अपना सातत्य कायम रखा है। अत्यन्त प्राचीन समय से सांस्कृतिक परम्पराओं की जीवन्तता सचेत रही है। इन सांस्कृतिक परम्पराओं में इस देश के लोक मानस ने देव और देवियों की आराधना के साथ-साथ यक्ष, राक्षस, नाग, गन्धर्व आदि के पूजा अनुष्ठान की परम्परा भी रही है। इन अधिदेवों की चर्चा करते हुए रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी कृति, "संस्कृति के चार अध्याय" में लिखा है कि 'पुराणों में यक्ष, राक्षस, नाग, किरात, गन्धर्व आदि को जो उल्लेख है वह स्पष्ट ही आर्योतर जातियों के अस्तित्व की सूचना देता है पुराणों के अनुसार देवों की अपेक्षा असुरों का प्राचीन होना अधिक सम्भव दिखता है। इससे भी सूचित होता है कि भारत में आर्यों से भिन्न और भी बहुत से लोग थे जिनके मौखिक साहित्य और पूजा अर्चना का समावेश पुराणों में हुआ है।'[१]

अर्धदेव योनि में उत्पन्न यक्षों का उल्लेख भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में हुआ है यक्षों को राक्षसों के निकट माना जाता है। यद्यपि वे मनुष्यों के विरोधी नहीं होते जैसे राक्षस होते है। माना गया है प्रारम्भ में दो प्रकार के राक्षस होते थे, एक जो रक्षा करते थे वे यक्ष कहलाये और दूसरे यज्ञों में बाधा उपस्थित करने वाले राक्षस कहलाये। यक्षों के राजा कुबेर उत्तर के दिक्पाल तथा स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कहलाते है।[२] इस देश में बड़े ही प्राचीनकाल से यक्ष पूजा होती रही है यक्ष पूजा की परम्परा का उन्मेश सिंधु-सभ्यता युग में दृष्टिगत होता है जो इस परम्परा को तीसरी-चौथी सहस्राब्दी ई.पू. तक ले जाती है। यक्षों का निवास चैत्य वृक्ष भी रहे है। इनकी आदम कद मूर्तियाँ तीसरी सदी तीसरी सदी ई.पू. से भी पहले बनी और पूजी गई। इनकी पूजा आठवीं-दसवीं सदी ई. तक होती रही है। यक्ष पूजा का उल्लेख प्रारम्भ में सिंधु सभ्यता की कलाकृतियों में दृष्टिगोचर होता है। पुनः इनका साहित्य में समाहार हो जाता है। मौर्य काल की कला कृतियों को दृष्टान्त में दीदारगंज की यक्ष प्रतिमाएं आदि इस परम्परा की निरन्तरा तथा लोकप्रियता को ज्योतित करती है। इसके बाद इसकी अविच्छिन परम्परा शुंगकाल से गुप्तकाल की

कला कृतियों तथा साहित्य में समानान्तर उपलब्ध होती है। यक्ष पूजा जनमानस में इतनी प्रिय हो चली थी कि कभी भी किसी काल में इसका विरोध नहीं हुआ। जिससे इनकी निरन्तता एवं लोक प्रियता बाधित हुई हो।[३] यक्ष प्रणय के भी प्रतीक माने गये है ये भले और बूरे दोनों प्रकार के बताये गये है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि नदी, वृक्ष, पर्वत, यक्ष, नाग, देव, भूमि आदि अनन्तः देवी-देवताओं की पूजा मान्यता की पूजा मान्यता को स्वीकार करती हुई लोक संस्कृति आगे बढ़ी है। निषाद जाति के नाग व यक्ष द्रविड़ों के शिव और आर्यो के देव एक दूसरे से कंधा मिलाकर भारतीय संस्कृति के माहौल में एक साथ रमण करते हुए देखे जा सकते है।[४]

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कुमार स्वामी के मत से प्रतीकों में देवता का स्वरूप मानकर पूजा करने की परम्परा के पहले से ही गांव में यक्ष पूजा का प्रचलन था ये यक्ष मूर्तियाँ पुरुष के बराबर या कभी-कभी और भी बड़ी होती थी और खुले आसमान के नीचे बिना किसी आच्छादन के खड़ी की जाती थी। यह परम्परा सारी मूर्ति पूजा के मूल में अवस्थित है और अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आज तक यक्षों की वंश परम्परा हमारे लिए महत्त्वपूर्ण रही है। आज कल के वीर-ब्रह्म इन्हीं यक्षों के वंशज है। ये अक्सर खुले आसमान के नीचे वर्षा, धूप, सर्दी सहते रहते है। अकेले बनारस शहर में सौ से अधिक बीरो का जमघट देखा जा सकता है।६

प्राचीनकाल की यक्ष पूजा ही कालान्तर में बीर-ब्रह्म की पूजा के रूप में लोक में प्रचलित हुई। काशी में में वीर-ब्रह्म की पूजा और मान्यता अभी तक प्रचलित है। अथर्वेद में यक्ष को ब्रह्म कहा गया है। केन उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म देवों के सम्मुख यक्ष रूप में प्रकट हुआ है। देवी भागवत् में एक कथा है कि देवों और असुरों के युद्ध में देवता जीत गये तो उन्हें अभिमान हो गया तब ब्रह्म यक्ष का रूप धरकर देवों समक्ष प्रकट हुआ देवता नहीं सके। तब अग्नि, वायु, बरूण आदि देवों ने उसके शक्ति की परीक्षा ली पर सब असफल रहे तब उस यक्ष ने कहा कि तुम्हारी शक्ति कुछ नहीं शक्ति तो मैं देता हूँ। उपनिषद् की कहानी का सन्दर्भ भी लगभग यही है। वैदिक साहित्य, सूत्र, ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैन साहित्य और इन धर्मों से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय कला इन सबने यक्षों की मान्यता और पूजा के वर्णन भरे हुये है। वीर और ब्रह्म ये दोनों शब्द यक्षों के लिए ही कालान्तर में प्रयुक्त होने लगे। मध्यकालीन साहित्य, ५२ वीरों के उल्लेख से भरा हुआ है। उत्तर भारत और विशेष रूप से भोजपुरी अंचल में लोक गाथाओं और लोक कथाओं में इस प्रकार के वीरों का उल्लेख है। इसमें अनेक वीर ब्रह्मों का उल्लेख प्रसिद्ध लोक वार्ता विद् विलियम क्रुक महोदय ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ नार्थ ईस्ट प्राविन्स एण्ड अवध' में किया है।८

यक्ष पूजा जो कलान्तर में बीर-ब्रह्म के रूप में लोक मान्यता मिली के साक्षात् प्रमाणों को लोक जीवन में देखकर अत्यन्त आश्चर्य और कुतूहल होता है। इतना अधिक वैज्ञानिक विकास के बावजूद भी यक्षों के स्थान पर पूजा और मनौती आज भी होती रहती है। पूर्वाचल के बहुत से गांवों में ब्रह्म का चौरा देखने को मिलता है जो चौरा मिट्टी का ढूहा के रूप में बना रहता है। इन ढूहों को ब्रह्म वीर की संज्ञा दी जाती है जो प्राचीन यक्ष पूजा का ही लोक द्वारा दिया गया दूसरा नाम है। उत्तर और दक्षिणी भारत के गांव में पत्थर, ढूह, पेड़ अथवा चौरा के रूप में इन वीरो के स्मृति अवशेष आज भी वर्तमान है। इनकी विशेष पूजा आदिवासियों और समाज के निचले वर्ग की जातियों द्वारा ज्यादा की जाती है। ऐसे प्रमाण मिलते है कि यक्षों के नामों से पहले छोटे और बड़े विशेषण जोड़ दिये जाते थे भारहुत की

कला में बहुत से यक्षों के ऐसे नाम मिले है प्राचीन में एक प्रसिद्ध स्थान लहुराबीर है जो आज एक मुहल्ला का रूप ले लिया है। लहुराबीर का अर्थ है छोटा वीर लहुराबीर नाम से ही ज्ञात होता है कि काशी में कोई बड़ा वीर भी अवश्य था। काशी में बुल्ला नाला प्रसिद्ध है। संस्कृत विपुल से विउल-बुल्ला बना है विपुल का ही अपभ्रंश रूप बुलचन्द है ये बुल्ला नाला, बुल्ला वीर के नाम से पड़ा हुआ ज्ञात होता है इसी के आप-पास कही बुल्ला वीर का स्थान रहा होगा। काशी में और भी कितने ही वीरों के स्थान है जिनमें भेलूपुरा के डौड़ियाँ वीर प्रसिद्ध है। ये सब प्राचीन यक्ष पूजा के ही अवशिष्ट रूप है।[7] बनारस शहर में वीर-ब्रह्म के पूजा की मान्यता इतनी गहराई तक रही कि कुछ मुहल्लों का नामकरण ही इन वीरों के नाम पर पड़ गया। जैसे लहुराबीर और भोजूवीर। बनारस में दइतरावीर, बिजुलियावीर, मूरकट्टावीर, करमनवीर, मानिकवीर, खोरावीर आदि नाम है। लोक संस्कृति में इन हरेक वीरों का कोई न कोई किस्सा कहानी मौजूद है। जब कोई महामारी प्रकोप होता है तो मानिकवीर की पूजा होती है। यह मानिक वीर किसी समय मड्ढ देवता था जो यक्षों के प्रधान मणिभद्र यक्ष का बचा खुचा रूप है। वस्तुतः प्राचीनकाल में एक मंगलमणि की पूजा प्रचलित थी जिससे महाभारत में युधिष्ठिर के संदर्भ में दिव्यमणि कहा गया है। उस मणि की कृपा से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती थी। इनका विस्तृत उल्लेख पूर्णक यक्ष की जातक कथा में आया है। इस मंगल मणि का अधिष्ठात देवता मणिभद्र यक्ष प्रतीत होता है। काशी के वीरों की सूची में डौड़ियावीर का नाम भी ध्यान देने योग्य है। प्राचीन लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली के बाहर घण्टायक्ष का चैत्य था किसी बाहरी व्यक्ति के चोरी से नगर प्रवेश करने पर वह यक्ष घण्टा बजाकर नगर वासियों को सावधान कर देता था। काशी की प्राचीन सीमा पर कुछ ऐसा ही कार्य इस डौड़ियावीर का भी था।

वीरनाथ की चर्चा भी इसी श्रृंखला में व्यातव्य है। इनका विवरण देते हुए डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने लिखा है कि शिला या प्रस्तर भी देवताओं के प्रतीक है इस प्रकार के पाषाण खण्डों की पूजा पूरे देश में प्रचलित है। कई स्थानों में ये शिलास्तम्भ लकड़ी के खम्भों के रूप में दिखाई देते है जो लगातार तेल और घी के लेपन से काले पड़ गये है। इनमें एक पत्थर देव बीरनाथ है। जिनकी पूजा कई प्रदेशों में आभीर वर्ग के लोग अपने पशुओं की रक्षा के लिए करते है। वास्तव में यह किसी यक्ष पूजा अथवा वीर पूजा का विकसित रूप है।

जौनपुर जिला में एक केदारवीर का नाम है जिनका स्थान पर एक खण्डहर नुमा किला में आज भी देखा जा सकता है। तकमानस में इस वीर के सन्दर्भ में अनेक दन्त कथाएं आज भी प्रचलित है। एक किंबदन्ती ये भी है कि अंग्रेज सरकार बारूद से इस किला को उड़ा दिये लेकिन केदारवीर का पत्थर शरीर ज्यो का त्यो सुरक्षित रहा। खटिक जाति के लोगों में इस वीर की पूजा ज्यादा प्रचलित है रोट, चावल और शराब के द्वारा इस वीर की पूजा की परम्परा है। यक्ष पूजा से इतर लोकमानस में यह भी अन्धविश्वास प्रचलित है कि अगर कोई व्यक्ति पोखरा तालाब में डूबकर मर गया हो या पेड़ से गिर कर मर गया हो तो उसकी आत्मा बरम या ब्रह्म के रूप में उस स्थान पर भटकती है उस स्थान पर उनका चौरा भी बना दिया जाता है। गैड़ावीर, अकतावीर, रकटूबरम, हरसूबरम्, अहटौरावीर ऐसे ही ब्रह्म है जो किसी सून-सान स्थान पर गांव के बाहर पेड़ के पास या किसी पोखरे के पास है। इनकी पूजा कही रोट और बलि चढ़ाकर की जाती है अंग्रेज विद्वान् विनियम क्रूक ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ नार्थ ईस्ट प्राविन्स एण्ड अवध में इन सब ब्रह्म वीरों की चर्चा विस्तार से किया है। काशी नगर के बाहर यक्ष पूजा का सबसे बड़ा स्थान बिहार

राज्य के मैरवा में स्थित हरसू ब्रह्म का स्थान है जो प्राचीन हरीकेशव यक्ष का ही प्रतिनिधि जान पड़ता है। जिसे आज भी जनमानस यक्षों का राष्ट्रपति मानता है।

वीर बरम की पूजा का क्षेत्र आज भी बंगाल से राजस्थान महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश तक फैला हुआ है। लोकवार्ता विज्ञान के प्रख्यात विद्वान डॉ. कृष्णानंद गुप्त और डॉ. बासुदेव शरण अग्रवाल की बड़ी स्पष्ट मान्यता है की प्राचीन काल की यक्ष पूजा ही लोकमानस में वीर-ब्रह्म की पूजा के रूप में प्रचलित हो गयी। इन लोगों का कहना है कि अगर लोकवार्ता साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक पद्धति या संगठित कर सके हो इस विषय में स्पष्ट और निश्चित जानकारी की संभावना है जिसके द्वारा इस सामग्री को प्राचीन यक्ष पूजा की परम्परा को साथ जोड़ना और भी अधिक संभव हो सकेगा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के रथतिलब्ध प्रोफेसर मेनन ने डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल को इस बात की जानकारी दी कि केरल और तमिलनाडु में भी प्राचीन यक्ष और यक्षिष्टियों की पूजा की प्राचीन परम्परा अभी तक विद्यमान है जो उस अंचल के अधिकांश गांवों में फैली है। यक्ष-पूजा के साथ यक्ष ब्रह्म यक्षों से प्रश्न पूछने की प्रथा की जिसे प्रश्नों यक्ष-प्रश्नोत्तरी भी कहते है। आज भी यक्ष या वीर जब किसी के सिर पर आ जाता है तो वह चारो ओर से प्रश्नों की झड़ी में आ जाता है। बता, तूँ कौन है, कहाँ से आया है आदि-आदि प्रश्न पूछे जाते है। मैरवा में नवरात्र को अवसर पर हरसू ब्रह्म के स्थान पर जिस किसके सिर पर भूत-प्रेत की बाधा आती है तो उससे इसी प्रकार के प्रश्न पूछे जाते है। महाभारत में युधिष्ठिर और यज्ञ के संवाद रूप में जो प्रश्नोत्तरी दी हुई है उसमें यक्ष पूछने वाला है और युधिष्ठिर उत्तर देने वाले है लेकिन लोग पूछे यक्ष उत्तर दे, वह भी एक परम्परा थी जो वैदिक काल तक पायी जाती है। महाभारत की यक्ष प्रश्नोत्तरी लोक साहित्य का अमित्र अंग बन गई। यदि यक्षों के गीत, वीरपूजा के गीतों का संग्रह किया जाय तो उनके द्वारा लोकसाहित्य में और भी प्राचीन साहित्यिक अभिप्राय खुलेंगे।

ख्याति लुब्ध विद्वान डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने सर्वप्रथम यक्ष पूजा की व्यापकता पर प्रामाणिक ढंग से ध्यान दिलाया था। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण साहित्य में इस संबंध में जो सामग्री है, उसके आधार पर उन्होंने यक्ष नामक ग्रन्थ लिखा जिसका, पहला भाग वाशिगंटन के स्मिथ सोमियन इन्स्टिट्यूशन से १९२८ में और दूसरा भाग १९३१ में प्रकाशित हुआ। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में बड़े-बड़े नगरों के के पास प्रसिद्ध यक्ष मंदिर थे, जैसे कपिल वस्तु में शक्य वर्धन यक्ष का मंदिर था, जहाँ बालक सिद्धार्थ के माता-पिता बच्चें को लेकर पूजा के लिये जाते थे। वैशाली नगर के बाहर विशाल नामक यक्ष का मंदिर था। पाटलिपुत्र में पुरगा नामक यक्षी का मंदिर था। गया में शुचिलोम यक्ष का मंदिर था। आज भी लोक में इन स्थानों के लिये मौन या चौरा शब्द प्रचलित है। जैन ग्रन्थ सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार, मिथिला नगरी में बाहर मणिभद्र नामक यक्ष का चैत्य था जिसमें पूजा के लिये अमीर-गरीब सब इक्कठे होते थे और ध्वज, घण्टा, मोरछल, पूर्णघट, लालचंदन, पुण्य आदि से धूम-धाम से पूजा होती थी। वहाँ विशाल मेला भी लगता था। लोक में चाहे कोई वस्तु सुरक्षित रहे या न रहे, मेले और उत्सव बराबर जीवित रहते है, चाहे कालान्तर में उनके स्वरूप में कुछ हेर-फेर भले ही हो जाय। नागो, यक्षों और यक्षिणियों के स्थान पर जो मेले प्राचीनकाल में लगते थे, और जो प्रसिद्ध स्थान विविध जनपदों में थे, वे किसी न किसी रूप में आज भी वहाँ मिलना चाहिये। जैसे राजस्थान के भरतपुर के पास नोह गांव के एक टीले के पास मार्यकालीन महाकाय यक्ष-मूर्ति की प्राप्ति हुई। उस स्थान पर गांव वाले आज तक जखैया के नाम से पूजते है।

इन तमाम प्रकार के वीरों की चर्चा के क्रम में अगर महावीर की चर्चा न की जाय तो बात अधूरी होगी। वस्तुतः महावीर की लोकमानस में दो प्रकार से पूजा होती है। एक मंदिर में हनुमान की मूर्ति के रूप में और दूसरे यहाँ या स्तूप के रूप में यह दूसरी पूजा वीर या यक्ष पूजा ही है। बड़े यक्ष का ही नाम महावीर हुआ। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में दीवाली के दिन जिसे कामसूत्र में यक्ष रात्रि कहा गया है, महावीर का जन्म दिन मनाया जाता है और प्रत्येक घर में सेट का चूर्मा बनाकर उनकी पूजा की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी विनय पत्रिका में महावीर की आराधना के रूपक का वर्णन किया है-

वीर महा अवराधिए, साधिए सिधि होय
सकल काम पूरन करे, जाने सब कोय।

विनय पत्रिका को इस पद सं.-१०८ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो इस बड़े वीर की इस पद्धति से पूजा है, वह रघुनाथ जी की प्राप्ति के मार्ग में बढ़ जाता है। धातव्य यह है कि विनय पत्रिका के उक्त पद में बिन अभिप्रायो का उल्लेख किया गया है, वे सब लोक प्रचलित वीर पूजा से ही लिये गये है। महावीर की वीर रूप में जो पूजा पूर्वी जिलो में प्रचलित है, उसका ज्ञान गोस्वामी जी को अवश्य था। महावीर को पूजा की परम्परा मैदानी भाग के बनवासी लोगों और अनार्य संस्कृति वालें लोगों में भी पायी जाती है।

कालान्तर में यक्ष धर्म की जो पूजा पद्धति थी उसे भागवत धर्म में भी स्वीकार कर लिया गया। जहाँ एक ओर भागवत धर्म के पूजन में वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान और स्वीकृति है वही दूसरी ओर नृत्य, गीत, वाद्य, पत्र, पुष्प, फल, बलि आदि के द्वारा लौकिक पूजा विधि को मान्यता मिली। ये सारी लौकिक विधियाँ प्राचीन यक्ष-पूजा से ही जुड़ी हुई है जो गांव-गांव में स्थापित वीर-ब्रह्म के पूजा से संबंधित है। लोक में कहा जाता है कि हर गांव में शिव का मंदिर हो यह जरूरी नहीं लेकिन ठाकुरों की तरह वीर हर गांव में होता है।

कहा गया है-

गांव गांव का ठाकुर गांव गांव का वीर।

इस तरह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे लोक जीवन में अतीत कल की यक्ष-पूजा ही वीर-ब्रह्म की पूजा के रूप में प्रचलित हो गई। कुछ वीर-ब्रह्म के इस पूजा पद्धति को व्यर्थ का बकवास या मूर्खों की पूजा कहते हुये भी दीख जाते है। लेकिन सच्चाई यह है कि आधुनिकता या विकास के नाम पर लोक परम्परा के जीवित अंश को छोड़ देना और नयी सभ्यता के बहाने भोगों का उन्मत राग अलापना भविष्य को नकारना है। संस्कृति परिष्कार करती है और लोक संस्कृति तो हमें अपने जड़ो को समझने की उर्जा प्रदान करती है। क्योंकि इन्हीं जड़ों में ही लोक संस्कृति की आत्मा निवास करती है।

पादटिप्पणी

१. संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृ.सं.-५९
२. हिन्दू धर्मकोश- सं. डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ.-५३०
३. भारतीय व्यक्ति कोश- डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, पृ.-१७४
४. पृथिवी-पुत्र- डॉ. बासुदेवशरण अग्रवाल, पृ.-३१९
५. पुराने पर घर-नये लोग- ठाकुर प्रसाद सिंह, पृ.सं.-६९
६. ट्राइब्स एण्ड कास्ट आफ नार्थ ईस्ट प्राविन्स एण्ड अवध विलियमक्रूक, पृ.-१८९
७. पृथिवी-पुत्र- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ.-३२१
८. हिन्दू धर्मकोश- डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. ४४
९. वाट इज सिविलिजेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस दिल्ली, आनन्द कुमार स्वामी १९८९



नेहरूमहाकाव्य परिशीलन

डॉ. हर्षा एच. मदलाणी
एसो. व्याख्याता-संस्कृत
श्री के.एच. माधवाणी आर्ट्‌स एण्ड कॉमर्स डिग्री कॉलेज
पोरबन्दर (गुजरात)

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य के अनेक विद्वानों एवं मनीषियों ने खण्डकाव्यों, नाटकों एवं महाकाव्यों का सर्जन किया। लेकिन वर्तमान संस्कृत साहित्य पर आचार्य शम्भूदयाल अग्निहोत्री ने अपनी विलक्षण बौद्धिक क्षमता का परिचय दिया है।

आचार्य अग्निहोत्री का जन्म सं. १९९८ (सन् १९४१) में हुआ था। उनकी शिक्षा संस्कृत से ही प्रारम्भ हुई। सन् १९५५ में उन्होंने सावित्री संस्कृत महाविद्यालय से प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके सन् १९६५ में फर्रुखाबाद में नौकरी की। वहाँ इन्होंने साहित्याचार्य की परीक्षा सन् १९६८ में उत्तीर्ण की। सन् १९७० में एम.एस. (संस्कृत) किया। सन् १९७२ में सर्वोदय इण्टर कॉलेज, पिपरगाँव में संस्कृत अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए।

रचनाएँ

आचार्य जी की चार रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) शालिनीखण्डकाव्यम्—द्वितीय प्रधानमन्त्री स्व. लालबहादुर शास्त्री का जीवनवृत्त इसमें प्रदर्शित किया है।

(२) कमलावाहनखण्डकाव्य—इसमें लक्ष्मीजी के वाहन का पौराणिक आधार पर चित्रण किया है।

(३) श्री दुर्गाशताष्टकम्—इसमें भगवती दुर्गा के समस्त रूपों का चित्रण किया गया है।

(४) नेहरूमहाकाव्यम्—इस महाकाव्य में स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू के समस्त परिवार का सांगोपांग चित्रण किया गया है। वर्तमान युग की समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इसकी रचना की गई है। इस महाकाव्य में बारह सर्ग हैं। अन्तिम सर्ग में रचनाकार ने कवि परिचय देते हुए फर्रुखाबाद जिले के समस्त ऐतिहासिक स्थानों का विस्तृत वर्णन किया है।

नेहरू महाकाव्य की भूमिका

"सर्गबद्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः"।

इन समस्त लक्षणों से युक्त वर्तमानयुग का ग्रन्थरत्न नेहरू महाकाव्य आचार्यजी की अद्‌भुत रचना है। इस रचना में महाकवि ने नारी-शिक्षा, दहेज प्रथा, वृक्षारोपण, प्रदूषण की समस्या, जातिवाद, छात्रों में अनुशासनहीनता, स्वतन्त्र प्रेम विचार के गुण-दोषों पर विचार किया है। कवि ने पं. नेहरूजी, इन्दिरा गाँधी, उनके परिवार आदि के कौटुम्बिक जीवन और उनकी भावनाओं को महाकाव्य में चित्रित किया है।

वृक्षारोपण की समस्या

नेहरू महाकाव्य में रचनाकार ने नवमसर्ग में पद्य ७० में वृक्षारोपण से सम्बद्ध अच्छा विचार किया है। राजीव गाँधी के मार्ग में एक बालिका मिली और उनसे बोली—मैंने एक बगीचा अपने हाथों से सींचा है। मेरे पिताजी उसे कटवाना चाहते हैं। तब राजीव गाँधी ने अपने विचार प्रगट किये हैं—

"मही सहाः मानवमात्रपोषकाः
तथोपकुर्वन्ति फलैश्च दारुभिः।
नु छायया ताप निवारितुं क्षमाः
महाजनानां चरितं विलक्षणम्"।। (९०)

अर्थात् वृक्ष की मनुष्यमात्र का जीवन है। वे सदैव अपनी लकड़ी, फल तथा फूलों से सबका उपकार करते हैं। अपनी छाया में सभी का संताप दूर करते हैं। अतएव वृक्षारोपण करना चाहिए। वृक्षों का विनाश करना मानवमात्र के लिए सदैव क्लेश कर सकता है। ऐसे अनेक स्थलों पर नवमसर्ग में कवि ने अपने सुझाव दिये हैं।

दहेज प्रथा और नारी शिक्षा

हमारे देश में दहेज प्रथा एक ऐसा रोग है, जिसके कारण शिक्षित बालिकाओं का जीवन भी नरक बन जाता है। नवम सर्ग में बताया है कि राजीव गाँधी को एक किसान ने अपनी लड़की के मौत के बारे में बताया था। वह मौत के बारे में बताया था। वह मौत दहेज के लिए हुई थी। इस बारे में रचनाकार ने अपने विचार रखे हैं—

"अहो प्रभो! भारतदेशदुर्दशा,
विवाहकाले सुरसामुखीव सा।
प्रवर्धयन्ती वडवानलं सदा,
विनाशमाकाशमियं तदेष्यति"।। (५५)

हे ईश्वर! कन्या के विवाह के समय भारत की स्थिति सुरसा के मुख समान प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। विनाशरूपी आकाश को वह निश्चित प्राप्त कर लेगी। अर्थात् दहेज प्रथा की समस्या असीमित होती जा रही है।

लड़के वालों को कन्या के गुणों का कोई कीमत नहीं होती। वे लोग केवल धन का सञ्चय करते हैं। आगे महाकवि ने शिक्षित होने की बात बताई है। यदि भारत की नारी शिक्षित होगी तो वह अपनी संतान को शिक्षित बनाएगी। एकादश सर्ग में—

"सुशिक्षयेत्सम्यग्संततिस्त्वया,
न चात्र लोके हिततः परं धनम्।
सदैव सम्मानमवादयते नरः
गृहे वने राजगृहेषु चाम्बरे"।। (४३)

हमारे देश की नारियों को भी नवीन शिक्षा पद्धति की नीति के अनुसार शिक्षित होना चाहिए। इससे बढ़कर कोई धन नहीं होता। इससे वे घर में, वन में, राज दरबारों में भी सम्मान प्राप्त कर सकती हैं।

राष्ट्रीय भावना

इस महाकाव्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि रचनाकार ने कई जगह राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। ग्यारहवें सर्ग में राजीव गाँधी ने अपनी प्रियतमा श्रीमती सोनिया गाँधी को राष्ट्र के प्रति समर्पित होने की जो शिक्षा दी है, वह बेजोड़ रही है। १८वाँ पद—

'हे प्रिये! यह भारत माता मुझ अपनी माता इन्दिरा के समान सदैव प्रिय रही है। क्योंकि इसने मुझे अपनी गोंद में जन्म देकर पालन-पोषण भी अपने बच्चे के समान ही किया है। इसी सन्दर्भ में पं. नेहरू जी ने तृतीय सर्ग पद्य १५ में कहा कि—

"अतस्त्वहं भारतभूमिथापनम्,
स्वतन्त्रमित्थं ब्रिहितुं स्वशत्रुभिः।
शरीरदानेन स्वमातृतत् पुनः,
स्तथा करिष्ये वचनं प्रतिज्ञय"।।

मैं भारत माता को अपने शरीर को न्यौछावर करके भी भारत माता को शत्रुओं से स्वतन्त्र कराकर ही रहूँगा।

आतंकवाद और प्रदूषण की समस्या

महाकाव्यकार ने अपनी रचना में विश्वव्यापी आतंकवाद की समस्या पर गहरी चिन्ता व्यक्त की है। आतंकवाद ऐसा भयंकर रोग नहीं है, जिसका निवारण

असम्भव हो। इस सन्दर्भ में महाकाव्य के नवम सर्ग के १२वें श्लोक में बताया गया है कि राजीव गाँधी लंका नरेश के देश की दुर्दशा देखकर अपने सैनिकों के साथ लंका गये। वहाँ जाकर आतंकवादियों के मार्ग को अवरुद्ध करके उनका रास्ता परिवर्तित करके परम यश को प्राप्त किया। साथ में प्रदूषण की समस्या पर विचार करते हुए रचनाकार ने कहा कि हमारे देश में आतंकवाद की तरह जल, वायु, प्रदूषण की समस्या बढ़ती रही तो एक दिन मनुष्य के लिए शुद्ध पेयजल तथा सांस लेने के लिए शुद्ध वायु भी उपलब्ध नहीं हो सकती।

रचनाकार ने श्री राजीव गाँधी के द्वारा निवारण की गयी प्रदूषण की समस्या पर इसका हल निकाला है। राजीव गाँधी ने देखा कि देश में प्रदूषण की समस्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। उन्होंने नदियों के किनारे पर विशेष प्रकार के बिजली के ताप (हिटरों) का निर्माण कराया। जिसके कारण मुर्दों की चिता से दुर्गन्ध एवं धुएँ का सदैव के लिए निवारण हो गया। इस तरह अनेक सुझाव महाकाव्य में दिये गये हैं।

छन्द और अलंकार योजना

छन्दों के प्रयोग में महाकवि अग्निहोत्री ने लगभग २४ छन्दों का प्रयोग किया है। मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, मालिनी, उपजाति, वसन्ततिलका, हरिणी, वेशस्थ आदि छन्दों का प्रयोग किया है। लगभग प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है। करुण रस में अधिकतर हरिणी छन्द का प्रयोग किया है। अलंकार की दृष्टि से नेहरू-महाकाव्य में लगभग तीस अलंकारों का प्रयोग किया गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक एवं अन्य अलंकार यथा समय और यथा प्रसंग दर्शनीय हैं। अनुप्रास का प्रयोग तो आपने लगभग अनेकत्र जगहों पर किया है।

''कंकालेर्कलि कौतुकं कलयजः कृष्णायुद्यैकर्मुके।
कण्ठे कृष्णकलंककेलिकलयत्कारूप्यकुंफली''।।

इससे कहा जा सकता है कि नेहरू-महाकाव्य में रचनाकार ने अलंकारों के प्रयोग में अपनी जिस बौद्धिक क्षमता का परिचय दिया है, वह बेजोड़ है।

गुण एवं रीति

कवि ने नेहरू-महाकाव्य में सरल एवं सरस तथा बोधगम्य भाषा तथा पांचाली रीति का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण महाकाव्य में प्रायः प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का प्रयोग है। अग्निहोत्रीजी ने अपने महाकाव्य में बताया है कि—

"आरे के समान सरस हृदयरूपी लकड़ी को चीरकर आन्तरिक तन्तुओं को नष्ट करने वाला कवियों का कठिन काव्य सरस नहीं हो सकता। विद्वानों के हृदय को प्रिय लगने वाला तथा कहीं-कहीं अलंकारों से सुशोभित सरस एवं सरल काव्य ही उत्तम काव्य कहा जाता है।"

उपसंहार

इस प्रकार नेहरू-महाकाव्य में आचार्य अग्निहोत्री की बौद्धिक क्षमता का परिचय मिलता है। 'नेहरू महाकाव्य' आज के समाज को एक नयी दिशा प्रदान करता है और साम्प्रत समस्याओं का समाधान भी देता है। इसलिए यह महाकाव्य वर्तमान काल में दर्पण समान है।

पादटिप्पणी

१. साहित्य संस्कृति चिन्तन, लेखक- डॉ. कैलाशनाथ द्विवेदी, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।
२. नेहरूमहाकाव्यम्, आचार्य शम्भुदयाल अग्निहोत्री, फर्रुखाबाद (उ.प्र.)
३. कुमारविजयमहाकाव्यम्, डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, अनु. सदाशिवकुमार द्विवेदी, वाराणसी।



वेदों में यज्ञ परम्परा और सामाजिक पर्यावरण

गंगेश्वर पाण्डेय
हाटा-कुशीनगर (उ.प्र.)

यज्ञों की परम्परा सृष्टि रचना से पूर्ववर्ती है। पुरुष सूक्त के अनुसार परमेश्वर ने यज्ञ के द्वारा ही ऋतुओं, चतुर्वेदों, अश्व आदि पशुओं, चतुर्वर्ण युक्त मानवों, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथ्वीलोक व दिशाओं को उत्पन्न किया।

सृष्टि रचना में यज्ञ का महत्त्वपूर्ण व आधारभूत योगदान है। अत: यज्ञ को प्रथम अथवा मुख्य धर्म कहा गया है—"तानिधर्माणि प्रथमान्यासन्नं" प्रजापति ने अपनी प्रतिमा अर्थात् चित्र के रूप में सर्वप्रथम यज्ञ को उत्पन्न किया। अत: यह साक्षात् भगवान् का स्वरूप है। यज्ञ का तादात्म्य विष्णु, प्रजापति, अग्नि और इन्द्र आदि देवों के साथ स्थापित किया गया है।

सृष्टि संचालन में यज्ञों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वह समस्त भुवनों का केन्द्र है। उसने पृथ्वी को धारण किया है। यज्ञों की परम्परा को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है।

यज्ञ शब्द की निष्पत्ति यज् धातु से नङ् प्रत्यय कर से हुई है। जिसके तीन अर्थ हैं—१. देवपूजा, २. सङ्गतिकरण और ३. दान। देव शब्द परमेश्वर अज्न्यादि प्राकृतिक तत्त्व तथा विद्वान परोपकारी पुरुषों का वाचक है। यज्ञ में मन्त्र बोले जाते हैं उससे देवस्तुति और पूजा होती है। जिसका उद्देश्य है—मानव देवतुल्य उच्च आदर्शों एवं गुणों का आचरण करे। सङ्गतिकरण का तात्पर्य है—आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग, विद्वान् परोपकारी पुरुषों का सत्संग करना तथा पदार्थों का संयोजन। इस प्रकार योगाभ्यास, सत्संग और शिल्प-विज्ञान भी यज्ञ है, जो.....प्राणिमात्र के कल्याण के लिये किया गया है। किसी भी प्रकार का स्वार्थ रहित समर्पण दान कहलाता है। दान भी यज्ञ है। यज्ञ दानहीनता की भावना नष्ट करके अर्पण द्वारा परस्पर सहयोग एवं सौमनस्य का वातावरण बनाता है।

तात्पर्य यह कि यज्ञ का शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। गीता में उल्लिखित द्रव्य, यज्ञ, पतोयश और स्वाध्याय, यज्ञ आदि शब्द यज्ञ के व्यापक अर्थों के वाचक हैं। संक्षेप में प्राणिमात्र के लिए किए गये समस्त शुभ कर्म यज्ञ हैं। इस बात को पुष्ट करते हुये कहा गया है, "यज्ञ वै श्रेनुतमं कर्म"।

यज्ञ के दो रूप हैं। एक तो वह यज्ञ है जो प्रकृति द्वारा प्रतिक्षण सम्पन्न किया जा रहा है। इसे सृष्टिचरा कहते हैं। दूसरा वह यज्ञ जिसे प्रकृति की सूक्ष्माति सम्प्राप्ति के लिये आविष्कृत किया है। इसमें सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड प्रतीकों के माध्यम से सृष्टि के रहस्यों को अनावृत करता है। इसे द्रव्य यज्ञ कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों प्रकार के यज्ञों का व्यापक वर्णन हुआ है। द्रव्य यज्ञ का सृजन त्रेतायुग के प्रारम्भ में माना जाता है। विष्णुपुराण के एक श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने कहा कि "कृतयेगे यज्ञानाम् प्रवृत्तेः" अर्थात् सतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति नहीं हुई।

द्रव्य यज्ञों के दो भेद हैं—प्रथम श्रौतयज्ञ और द्वितीस समर्त यज्ञ। श्रौतयज्ञ के दो भेद हैं—सोमसंस्था

और हविशंक गृह्ययज्ञ को पाक संस्था भी कहा जाता है। गौतमधर्मसूत्रकार ने इसमें से प्रत्येक के सात-सात भेद दिखलाकर २१ प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है। अन्य ग्रन्थों में इससे भी अधिक यज्ञों के उल्लेख मिलते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार के यज्ञ सात्विक, राजसी व तामसी भेद से गीता में तीन प्रकार के बताए गये हैं।

सभी प्रकार के यज्ञों में कुछ यज्ञ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ काम्य होते हैं। नैमित्तिक और काम्ययज्ञ करने के लिये तो द्विज स्वतन्त्र हैं, किन्तु नित्य यज्ञ जिसे पञ्चमहायज्ञ कहते हैं, नित्य करना होता है।

अग्नि जलाने, पीसने, कूटने, जल का उपयोग करने तथा सफाई करने से जो पाप होते हैं—उसके प्रायश्चित स्वरूप पञ्चमहायज्ञों को प्रतिदिन किया जाता है। गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में पञ्चमहायज्ञों का उल्लेख मिलता है। इनके अनुष्ठान से समस्त प्राणियों की तृप्ति होती है।

मानवों के द्वारा आविष्कृत इस द्रव्ययज्ञ की परम्परा के विकास के लिये उनके विशाल शास्त्रों और सहस्त्रों ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। मीमांसाशास्त्र व विकास प्रमुख रूप में इसी यज्ञ के लिये हुआ। कात्यायन श्रौतसूत्र में द्रव्य, देवता ओर त्याग को यज्ञ का स्वरूप बताया गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार इस कर्म विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज् और दक्षिणा—इन पाँचों का संयोग होता है।

गीता में यज्ञ को प्रजापति द्वारा मनुष्यों के प्रति वह उपहार बतलाया गया है, जिसके द्वारा मनुष्य देवों को भावित करके अपनी सारी अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है और अपने वर्तमान जीवन तथा लोकान्तर की भव्यता का सम्पादन कर लेता है। शुक्लयजुर्वेद के अनुसार जो जिस कामना को लेकर हवन करता हैं, उसकी वह कामना पूर्ण होती है, यज्ञ में अपूर्व शक्ति है। अतः कठोपनिषद् का कहना है कि यज्ञ के द्वारा जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह उसे वही वस्तु देता है।

पवित्र ज्वाला वाला यज्ञाग्नि मानव को सहस्त्र लाभ पहुँचाता है—"सहस्त्रम्भरः शुचिजिण्यो अग्निः" यज्ञ से मानव के सैकड़ों प्रकार उत्थान होते हैं। यज्ञ करने से मानव उत्तम स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह यज्ञ से रक्षित होकर अन्न, धन, बल, विज्ञान और विजय आदि से युक्त अलज्जित होता हुआ पूर्व की अपेक्षा उन्नत हो जाता है।

यज्ञ और यज्ञ भगवान की उपासना करने से मनुष्य के मन, वाणी और बुद्धि की उन्नति होती है। ऋग्वेद के अनुसार यज्ञ की अग्नि हविद्रव्य प्रदान करने वाले को अत्यन्त यशस्वी, ज्ञानी, विजई और वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) बनाती है, और सर्वगुण सम्पन्न पुत्र प्रदान करती है।

सामाजिक पर्यावरण के लिये यज्ञ की महत्ता को प्रक करते हुये यजुर्वेद में कहा गया है कि हवि प्रजनन शक्ति देने वाली इस इन्द्रिय रूप या दस प्राणरूप वीरों को स्वस्थ रखने वाली, सब गुणों को अर्थात् समाज को सब वर्णाश्रमियों को स्वस्थ रखने वाली आत्मबल देने वाली उत्तम सन्तान को देने वाली जो अश्व आदि पशुओं को जन्म देने वाली, इहलोक और परलोक को देने वाली, निर्भयता को देने वाली, सन्तान को समृद्ध करने वाली और सन्तान में अन्न, दूध, वीर्य प्रदान करने वाली है। इसके अतिरिक्त यज्ञ से शुद्धि, ज्योति, कामेन्द्रिय कौशल, सुख, ज्येसुत्व, अधिपत्य, क्रोध, जेत व जय सामर्थ्य, विस्तार, दीर्घ, जीवन, अविच्छिन्नवंशत्व, प्रभु, अन्न धनादि, विद्यादि, गुणोत्कर्म आदि की प्राप्ति होती है। ऐतरेयब्राह्मण से विदित होता है कि यज्ञ करने से और वेदमन्त्रों के उच्चारण (स्वाध्याय)

करने से वायुमण्डल में परिवर्तन होता है, जिससे समस्त विश्व में धर्मचक्र चलने लगता है। यज्ञ करने वाला मानव उत्तम विचार और कर्म वाला स्वाध्य हो जाता है। यज्ञ से मानव की बुद्धि का विकास दीर्घ एवं सुखी जीवन के लिए होता है, और वह हिंसा से दूर रहता है। यज्ञ द्वारा मन की भावनाओं का उदात्तीकरण हो जाता है, और मानव में आत्मपवित्रता उत्पन्न होती है। यज्ञ से पूर्व अनुष्ठाता सत्याचरण की प्रतिज्ञा करता है।—''इदमहमनृतात् सत्यमुपैति''। यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व इस प्रतिज्ञा द्वारा यज्ञ की भौतिकी ही नहीं, अपितु मानसिक पवित्रता का भी निर्माण होता है, और मनुष्य पाप कर्म से दूर होता है। यज्ञादि कार्यों में यजमान को अपने ज्ञाताज्ञात समस्त दोषों के निवारणार्थ एवं अपनी शरीर शुद्धि के लिये आवश्यक यथाशक्ति प्रायश्चित करना होता है। वह प्रायश्चित मनुष्य निष्पाप एवं पवित्र बनाने के लिये होता है। यज्ञों में ब्राह्मण का वरण किया जाता है, जो सदाचारी, सत्यवक्ता, यज्ञ, अध्ययन, दान, याजन, अध्यापन तथा प्रतिग्रह—इन छः कर्मों में निरत हो, परोपकारी हो, पुण्य-पापविचारज्ञ हो, इससे समाज में निष्पाप व्यक्तियों की एक पंक्ति ऋत्विजों के रूप में प्राप्त हो जाती है। यज्ञ के सम्बन्ध में ऋत्विजों और यजमानों के नियमों की सूची सामाजिक पर्यावरण के विकास हेतु महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य के पाप रहित होने पर ही समाज में हिंसा और अनैतिकता का अभाव हो सकता है। यज्ञ मानव को पाप रहित करता है जो विद्वान् अग्निहोड़ा यज्ञ करता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है। जो यज्ञ करता है वह वस्तुतः पाप को मारता है। हवन करने से मनुष्य के पापों का शमन हो जाता है। यज्ञों द्वारा मानव के पापमोचन का उल्लेख अनेकशः प्राप्त होता है। यज्ञाग्नि दुष्ट चाल वाली आदित्य मायाओं को परास्त कर देती है। रोग रूप या काम-क्रोध आदि राक्षसों का विनाश करती है। अन्यत्र कहा गया है कि—यज्ञाग्नि भक्षक रोगों, रोग कृमियों एवं काम-क्रोध आदि शत्रुओं को निःशेष रूप से नष्ट कर देती है। अग्नि में डाली हुई हवि रोग कृमियों को उसी प्रकार से दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को।

यज्ञाग्नि में कृमि विनाशक औषधियों की आहुति देकर रोग कृमियों को नष्ट किया जाता है। यज्ञजन्य औषधियों के धूम्र को विकीर्ण करने से न केवल वायु का विष नष्ट होता है वरन् इसका उत्तम प्रभाव मानव स्वास्थ्य एवं वनस्पति तथा जंग पर पड़ता है। यज्ञ धूम्र, यज्ञशेष, घृत, आचमन, क्रिया आदि द्वारा रोगियों को स्वस्थ करने की पद्धति को ''यज्ञोपैथी'' नाम दिया गया है। वाशिंगटन स्थित अग्निहोड़ा विश्वविद्यालय के प्रयोगों के अनुसार खेतों पर नियमित रूप से यज्ञ करने से वातावरण शुद्ध होता है। पौधे तेजी से बढ़ते हैं, और फसलों के सब रोग दूर किए जा सकते हैं। एक यज्ञ दो सौ एकड़ खेतों के पौधों का स्वरूप बदलने में सक्षम है। यज्ञ का नया वैज्ञानिक नाम ''होम थैरेपी फॉर्मेसी'' रखा गया है।

यज्ञों के द्वारा विशुद्ध वर्षा जल की प्राप्ति होती है, जो अन्य जल और अन्न को शुद्ध करता है। शुद्ध अन्न, जल से शरीर व मन स्वस्थ रहते हैं और प्रजनन क्षमता विकसित होती है। अतः ''वृष्टिकोमो यजेत्'' ऐसी शास्त्रों ने आज्ञा दी है। मनुस्मृति में कहा गया है कि, अग्नि में विधि-विधान पूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती है, तत् पश्चात् उससे वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है। पद्मपुराण के अनुसार यज्ञ से देवताओं का पोषण होता है। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मानवों का पालन-पोषण होता है। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण धर्मयज्ञ के हेतु कहे गये हैं।

यज्ञ से अन्तःकरण की पवित्रता और कुसंस्कारों का निवारण होने से आत्मिक शान्ति और परमपद की प्राप्ति होती है। महाभारत की लड़ाई के पश्चात् शोकाकुल धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण ने आत्मिक शान्ति हेतु यज्ञ करने की सलाह दी। वस्तुतः कर्मकाण्ड के द्वारा उन दिव्य भावनाओं को जागृत किया जाता है, जो मानव में मानवता, पवित्रता और आत्मबल का संवर्धन करती हैं। यज्ञ द्वारा सत्याचरण, अमृतत्व, यक्ष्माभाव, आरोग्य जीवन, दीर्घायुष्य, अशत्रुत्व, अभय, सुखी, अच्छी निद्रा, शोभन, उषा और सुदिनत्व की प्राप्ति होती है।

यज्ञ से रविमुक्तामणि आदि धनसमृद्धि, पौष्टिकता, विभुत्व, प्रभुत्व, पूर्णता, परिपूर्णता, अक्षयता, अन्न और भुखमरी के अभाव की प्राप्ति होती है।

अन्न सत्यवाणि, दूध, घृत, मधु, सहभोज, सहपान, कृषि, वृष्टि, जलसामर्थ्य और शत्रु में भेदनीति का प्रयोग यज्ञ से सिद्ध होता है। ऐहिक सुख, पारलौकिक सुख, प्रिय पदार्थ, विषय सुख, प्रेमभाव, सौभाग्य, धन, ऐहिक कल्याण, पारलौकिक कल्याण, निवास योग्य गृहादि और यश की प्राप्ति यज्ञ से होती है। इन सबसे मानव का सामाजिक जीवन एवं पर्यावरण शुभ, सुखद और सुन्दर बनता है।

यह मानव के वाह्य और भीतरी पर्यावरण को शुद्ध करता है, जिससे उसे बल व सम्पूर्ण आयु की प्राप्ति होती हैं। यज्ञाग्नि से घर का पर्यावरण परिपुष्ट होता है। पुत्र-पौत्रादि संतति की वृद्धि होती है और दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा गया है कि सायं प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।

इस प्रकार यज्ञों के सामाजिक पर्यावरण के प्रति महत्त्वपूर्ण, सशक्त व सकारात्मक भूमिका को देखते हुए यज्ञ परम्परा के नैरन्तर्य को बनाये रखना आवश्यक है।

डॉ. अम्बेडकर एवं बौद्धधर्म

डॉ. प्रवीण कुमार गुप्त
असि. प्रो. दर्शनशास्त्र विभाग
किसान पी.जी. कॉलेज, पैकौली
हाटा-कुशीनगर (उ.प्र.)

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर एक ऐसा नाम है, जो बीसवीं सदी की पहचान बन गया है। वे एक महान विधिवेत्ता, राजनीतिक, अर्थशास्त्री एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता थे। उन्होंने भारतीय संविधान के रूप में राष्ट्र को ऐसा मनोवांछित दस्तावेज दिया, जिससे देश का खोया हुआ गौरव और आत्म-सम्मान बहाल हुआ। उन्होंने जीवन पर्यन्त सामाजिक-आर्थिक, असमानता, अन्याय, अत्याचार तथा शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया तथा शोषितों वंचितों के उत्थान व समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। डॉ. अम्बेडकर एक मनीषी थे और ऐसा व्यक्ति धर्म जैसे संवेदनशील मामले में पूरी तरह से विश्लेषण किये बिना धर्म ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये अम्बेडकर के जीवन में भी धर्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में उक्त बातें दिखाई देती हैं। प्रथम यह कि उन्होंने हिन्दू धर्म को सुधारना चाहा, जिसके प्रमाण में पहाड़ तालाब का सत्याग्रह और काला राम मन्दिर में प्रवेश की घटनाएँ हैं। एक तालाब में दलित व्यक्ति को पानी लेने की मनाही थी, और दूसरे में मन्दिर प्रवेश की। दोनों बातों का अम्बेडकर के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ा।

डॉ. अम्बेडकर का यह कहना था कि मनुष्य बिना धर्म के नहीं रह सकता। उनका विश्वास था कि जीवन के लिये धर्म आवश्यक है और इसके बिना समाज का संचालन भी कठिन है। डॉ. अम्बेडकर ने धर्म को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है— "धर्म सदाचार है, जिसका अर्थ होता है, जीवन के सभी क्षेत्रों में मनुष्य-मनुष्य के बीच अच्छे सम्बन्ध का होना। कोई भी व्यक्ति धर्म से अलग नहीं रह सकता है। समाज धर्म के बिना कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म का अर्थ, अच्छे सम्बन्ध जिनकी हर समय जरूरत होती है"। डॉ. अम्बेडकर के धर्म चिन्तन में हिन्दुत्व, बौद्धधर्म और लोकतंत्र के मानवीय मूल्यों का एक विराट त्रिसूत्रीय संगम नज़र आता है। जीवन से वर्गकलह को रोकना और मानवीय दुःखों का समूल उच्चाटन करके सदाचारी और शान्तिमय जीवन निर्मित करना ही धर्म का लक्ष्य है। धर्म शासन तथा कानून से बहुत बलवान है। लेक़िन राष्ट्र तथा कम्युनिटी जब न्याय के पक्ष में आवाज बुलन्द करते हैं, तो राष्ट्र तथा कम्युनिटी सर्वतः धर्म पर भारी पड़ते हैं। डॉ. अम्बेडकर धर्म सुधार के पक्ष में है। मॉर्क्स अधिनायकवादी और हिंसा, चोरी, क्रांन्ति को इसका उपाय बताते हैं। वहीं इसकी तुलना में उन्हें बुद्ध के पंचशील तथा अष्टांग मार्ग सिद्धान्त उचित लगते हैं। जगत् में शान्ति और सदाचार के निर्माण के लिए अम्बेडकर की पद्धति में विज्ञान, लोकतन्त्र और सुधारवाद का त्रिसूत्रीय संगम दिखाई देता है।

डॉ. अम्बेडकर धर्म की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं—"लोग जिसके द्वारा शासित होते हैं, वही धर्म है। सिर्फ़ सिद्धान्त में होता है, उसमें नियमों का

कोई स्थान नहीं होता। जब धर्म नियमों का आधार बन जाता है, धर्म और क़ानून की मिलावट हो जाती है, और धर्म के नाम पर क़ानून की वक़ालत बल प्रयोग से की जाती है, तो वह धर्म पूर्णतः नष्ट हो जाता है, क्योंकि जवाबदेही लोकोत्तर नहीं रह जाती है।''

डॉ. अम्बेडकर ने धर्म के चार लक्षण बताये हैं—

१. धर्म को नैतिकता के रूप में मानव समाज का आधार होना चाहिये।

२. धर्म को बौद्धिक तत्त्व पर आधारित होना चाहिये।

३. इसके नैतिक नियमों में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के भाव का समावेश हो।

४. धर्म द्वारा दरिद्रता को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये।

धर्म भाषा की तरह सामाजिक होता है। धर्म को आधार बनाकर समाज में भेदभाव करना अम्बेडकर को मंजूर नहीं है।

इन्हीं लक्षणों के आधार पर उन्होंने हिन्दू धर्म की कटु आलोचना की तथा अनेक बुराईयों को लोगों के सामने प्राकट किया एवं अपने इन्हीं लक्षणों के आधार पर बौद्ध धर्म की ओर उनका झुकाव हुआ।

डॉ. अम्बेडकर ने १६५६ में बी.बी.सी. लन्दन से ''मैं बौद्ध धर्म क्यों पसन्द करता हूँ, तथा वर्तमान परिस्थितियों में संसार के लिये क्यों हितकर है?'' शीर्षक पर प्रसारित वार्ता में कहा था, ''मैं बौद्ध धर्म को इसलिये प्राथमिकता देता हूँ, क्योंकि उसमें तीन ऐसे सिद्धान्त एक ही स्थान पर मिलते हैं जो किसी अन्य धर्म में नहीं मिलते। ये हैं—प्रज्ञा, समता और करुणा। बौद्ध धर्म क्रान्ति की अपेक्षा सूझ-बूझ की शिक्षा देता है। वह करुणा, दया, प्रेम, भ्रातृत्व सिखाता है। ये वे तत्त्व हैं जो अच्छे सुखी जीवन के लिये प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है। शक्ति, समाधि, प्रज्ञा ही बौद्ध धर्म का सार है। बुद्ध ने यह कहा है कि यह मार्ग सबके लिये खुला है। कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर वहाँ पहुँच सकता है, जहाँ वे स्वयं पहुँचे थे। इसके लिये मानव को स्वयं चलना होगा''। डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि, ''मनुष्य बौद्ध धर्म के द्वारा बताए मार्गों का अनुसरण करके अपने जीवन को सफल कर सकता है''। वे बुद्ध और उनका धम्म ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध, रेशनल, डेमोक्रेटिक, मॉरल और साइन्टिफ़िक हैं। धर्म क्या है? जीवन मंगल रखना धर्म है। जीवन में पूर्णता पाना धर्म है। सक्रियता और निर्वाण में जीना धर्म है। तृष्णा से मुक्त होकर जीवन जीना धर्म है। सभी यौगिक वस्तुएँ क्षणिक हैं। ऐसा विश्वास करना धर्म है। कर्म ही नैतिक नियमों की साधना है, ऐसा विश्वास करना धर्म है। महात्मा बुद्ध के अनुयायी होने के कारण डॉ. अम्बेडकर ने संसार के क्षणिकता या परिवर्तनशीलता स्वरूप की सत्यता को स्वीकार किया। इस संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। महात्मा बुद्ध का अनुसरण करते हुए उन्होंने कहा कि, किसी सत्य को प्रमाणित अथवा अप्रमाणित करने के लिये ''ईश्वरीय दृष्टि का प्रयोग'' न्याय संगत नहीं है। उनकी दृष्टि में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं कर सकता है, न कि कोई अलौकिक शक्ति। डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि, बौद्ध धर्म न केवल महान धर्म है, बल्कि वह एक उत्तम सामाजिक व्यवस्था भी है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म मनुष्य को अपने अन्दर छिपी क्षमता एवं योग्यता को खोजने एवं पहचानने का मार्ग प्रशस्त करता है। डॉ. अम्बेडकर ने महात्मा बुद्ध के सन्देश ''अत्त दीपो भव, अत्त नाथो भव'' का अर्थ बतलाते हुये कहा, ''अपने उद्धार के लिये आप स्वयं संघर्ष करो एवं अदृश्य शक्ति पर विश्वास न करो। तुम स्वयं ही

अपने स्वामी हो। कोई दूसरा तुम्हारा स्वामी नहीं है"। पहले यह बात समझ लें कि समाज में चारों ओर दुःख व्याप्त है, समाज को दुःख से मुक्त करें। दुःख के कारण का निवारण करें। दुःख को उचित उपाय करके सुख-शान्ति, बंधुत्व और मैत्री बढ़ाए। धर्म का मार्ग मंगल है, पंचशील का मार्ग मंगल है, पंचशील का अनुकरण करें। हिंसा न करें। चोरी न करें। व्यभिचार न करें। झूठ न बोलें। मद्य आदि मादक पदार्थों का सेवन न करें।

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाणी, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि ही मनुष्य के जीवन का मूल उद्देश्य होना चाहिये। यह मार्ग चार आर्यसत्यों का दर्शन है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार समानता, बन्धुत्व एवं लोकतन्त्रात्मक भावनाओं की प्रधानता पायी। डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि भारत में बौद्ध धर्म का उदय उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना फ्रांस की महाक्रान्ति का। उनका कहना है कि स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व—ये तीनों मेरे जीवन के आधार हैं। उन्होंने कहा, "मैं तो क्रान्ति दोनों युगान्तकारी महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं। भारतीय इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि बौद्धधर्म के उदय के बाद शूद्रों को भी राजसिंहासन पर आसीन होने का अवसर प्राप्त हुआ"। धर्म परिवर्तन के विषय में अम्बेडकर ने कहा था, "धर्म मनुष्य के लिये है, मनुष्य धर्म के लिये नहीं। जो धर्म अपने अनुयायियों को प्रेम, सहानुभूति करना नहीं सिखाता, वह धर्म नहीं है"। डॉ. अम्बेडकर ने धर्म का प्रयोग कभी नहीं किया है। उन्होंने 'धम्म' शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया है। उन्होंने 'धम्म' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतः धर्म इस शब्द का अर्थ लोग 'रिलीजन' ऐसा ही करते हैं। अम्बेडकर को यह स्वीकार नहीं था। जो धर्म ज्ञानी लोग हैं, वे धर्म को कदापि 'रिलीजन' नहीं कहते हैं। ऐसा अर्थ लगाना किस तरह से गलत है, यह बताते हुये बाबा साहब कहते हैं, "भगवान बुद्ध जिसे 'धम्म' कहते हैं, वह उस धर्म से मूलतः भिन्न है, रिलीजन व्यक्तिगत होता है, उसे व्यक्ति अपने तक ही सीमित रखता है, इसके विपरीत धम्म सामाजिक है। धम्म अर्थात् जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच बर्ताव उचित होना। व्यक्ति अकेला ही हो तो उसे धम्म की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जब दो लोग किसी रिश्तों से एकत्रित आते हैं, तो उन्हें पसन्द आये या ना आये, लेकिन धम्म अनिवार्य होता ही है। समाज धम्म के बिना नहीं हो सकता है।

डॉ. अम्बेडकर ने २३ सितम्बर, १९५६ को घोषणा की कि वे नागपुर में १४ अक्टूबर, १९५६ को बौद्ध धर्म ग्रहण करेंगे। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के बाद अम्बेडकर ने कहा, "गले सड़े धर्म को त्यागकर मैं आज एक नया जन्म ले रहा हूँ। और नरक से मुक्ति प्राप्त कर रहा हूँ"। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने से एक दिन पूर्व एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में डॉ. अम्बेडकर एक पत्रकार ने पूछा—"आप बौद्ध धर्म क्यों अपना रहे हैं?" अम्बेडकर ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म इसलिए ग्रहण कर रहा हूँ कि वह भारतीय संस्कृति एवं परम्परा का ही अंग है। मैंने इस बात का ध्यान रखा है कि मेरे धर्म परिवर्तन से भारत भूमि के इतिहास और सांस्कृतिक परम्पराओं को कोई हानि न पहुँचे"। महात्मा बुद्ध ने मनुष्य को केन्द्रीय तत्त्व मानकर उसके बौद्धिक एवं नैतिक उत्थान पर विशेष बल दिया। डॉ. अम्बेडकर कहते हैं, "महात्मा बुद्ध का दर्शन एवं सिद्धान्त अपने आप में अनुपम है। प्रत्ययप्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध का प्रमुख सिद्धान्त है। यह बारह कारणों की एक शृंखला है। यह सिद्धान्त बताता है कि विश्व कार्य कारण के अनुसार चलता है। ईश्वरीय इच्छा से नहीं चलता। डॉ. अम्बेडकर

कहते हैं कि इस दुनिया में एक तरह की सुव्यवस्था है और बौद्ध धर्म का कथन है कि यह नैसर्गिक व्यवस्था ईश्वर नहीं संभालता, अपितु वह धम्म के नियमों के अनुसार चलती है। सृष्टि की नैतिक व्यवस्था अच्छी हो या बुरी भगवान बुद्ध के विचार में वह व्यक्ति को सौंपी गई है। अन्य किसी को नहीं। डॉ. अम्बेडकर यह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि समाज के अच्छे रहने के लिए समाज में नैतिक व्यवस्था होनी चाहिये। वह नैतिक व्यवस्था अच्छे-बुरे कर्मों से निर्मित होती है। कर्म का फल उस व्यक्ति को ही भुगतना पड़ता है ऐसा नहीं है; अपितु कभी-कभी पूरे समाज को उसके परिणाम भुगतने पड़ते हैं। डॉ. अम्बेडकर जीवन भर समाज में भेदभाव, जातिभेद समाप्त करके समानता की स्थापना का प्रयास करते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक में लिखा कि "गौतम बुद्ध का धर्म एक सामाजिक संदेश है"।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ. अम्बेडकर, लाईफ एण्ड मिशन, पृ. ४९९, ५००
२. डॉ. अम्बेडकर : राइसिस एण्ड स्पीसेस, पृ. ३१२
३. धनंजय कीर, डॉ. अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन, सन् १९६२, पृ. ४६६
४. डॉ. विष्णुदत्त नागर, डॉ. अम्बेडकर के आर्थिक विचार और नीतियाँ, मध्यप्रदेश ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सन् १९९५, पृ. १२०
५. १९५६ में बी.बी.सी. लंदन में प्रकाशित वार्ता
६. बाबा साहेब अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, सम्पादित— डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठा कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली १९९४
७. वी.एम. शर्मा, भारतीय राजनीतिक विचारक, राउत पब्लिकेशन जयपुर, १९९५, पृ. ३७८
८. डॉ. अम्बेडकर, बौद्ध धर्म ही मानव धर्म, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ५०
९. डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. अम्बेडकर चिन्तन और विचार, सन् २००६, पृ. १६
१०. डॉ. सुशील जोशी, दलित समाज के पितामह डॉ. अम्बेडकर, सन् २००७, पृ. ८०
११. डॉ. सुशील जोशी, दलित समाज के पितामह डॉ. अम्बेडकर, सन् २००७, पृ. ८२
१२. डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड २, पृ. ४९
१३. धनंजय कीर, डॉ. अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन १९६२, पृ. २०१
१४. तदेव
१५. धनंजय कीर, डॉ. अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन १९६२, पृ. २३२



महाकवि सदानन्द डबराल विरचित नरनारायणीयम् महाकाव्यम् : एक अध्ययन

डॉ. गीताबेन ए. उनडकट

डॉ. वी.आर. गोढाणीया डिग्री कॉलेज
पोरबन्दर (गुजरात)

प्रस्तावना

कवि का जन्म तिमली डबरालस्यू गढ़वाल (उ.प्र.) में सन् १८७७ में सिद्ध तान्त्रिक दामोदरजी के घर हुआ था। सदानन्दजी को वाणी सिद्धि हो गयी थी, वैसे वे मात्र (प्रथमा) तक ही पढ़े थे। विद्या सिद्ध होने के पश्चात् वे बचपन से ही सुन्दर स्तरीय संस्कृत पद्यों की रचना करने लगे थे। इसलिए उन्हें सिद्धकवि कहते थे। विद्यासिद्ध होने पर वे शास्त्री-आचार्य तक के विद्यार्थियों को साधिकार पढ़ाते थे। प्राध्यापक रहते हुए उन्होंने 'नरनारायणीयम् महाकाव्य' की रचना की थी। उनकी लेखनी से 'नरनारायणीयम् महाकाव्य', 'दिव्यंचरितम्', 'कीर्तिविलास', काव्य एवं 'रास विलास' जैसी अनेक कृतियों का सर्जन हुआ। सिद्धकवि सदानन्दजी बीसवीं शताब्दी के बहुचर्चित संस्कृत कवि हुए हैं। इनका लिखा 'नर-नारायणीयम्' बहुचर्चित महाकाव्य है।

कथावस्तु : शास्त्रीय दृष्टि और महत्त्व

नौ सर्ग का 'नर-नारायणीयम्' महाकाव्य पौराणिक कथाओं पर आधृत है। वर्तमान से समझौता करने में कवि ने कल्पना का आश्रय लिया है। इस महाकाव्य में नर-नारायण की अचल तपः सिद्धि उनका सांसारिक प्रलोभनों से अप्रभावित होना, प्राकृतिक तथा दैवी विपदाओं पर विजय प्राप्त करना, कृष्ण और अर्जुन के रूप में नारायण और नर का, देवकी और कुन्ती के गर्भ से जन्म लेना, व्रजभूमि का कार्य सम्पादन कर द्वारिका निर्माण आदि लौकिक कार्यपूर्ति के उपरान्त आपने कृष्ण के गोलोकधाम प्रस्थान प्रभृति विवरण को ध्यान में रखकर सारगर्भित भाषा-सौष्ठव तथा पदलालित्य के साथ नौ सर्गों में शास्त्रीय महाकाव्य का निर्माण किया।

नर-नारायणीय महाकाव्य का कथानक पौराणिक कथाओं पर आधृत होने के कारण इसे धार्मिक महाकाव्यों की परम्परा में समाविष्ट किया जा सकता है।

मंगलाचरण

कवि ने काव्य का प्रारम्भ धर्म प्रजापति की पत्नी मूर्ति से दो पुत्रों की उत्पत्ति से किया है। प्रस्तुत पद्य में काव्य के बीजभूत मंगल के रूप में वस्तु का निर्देश किया गया है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुरूप यह वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण से युक्त है।

सर्ग

प्रस्तुत महाकाव्य नौ सर्गों में विभक्त है। सर्गों का विस्तार साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सर्गान्त में भावी सर्ग की सूचना प्राप्त हो जाती है।

नायक

नर-नारायण महाकाव्य में नायक की भ्रान्ति ग्रन्थान्त तक बनी रहती है। नर और नारायण दो ऋषि होते हुए भी कवि कुशलता के कारण एक नायकवत् प्रतीत होते हैं। नर-नारायण दिव्य पुरुष हैं। वे दिव्य धीरोदात्त नायक की कोटि में समाविष्ट किये जा सकते हैं। ये सौन्दर्य की अद्भुत प्रतिमा तथा धीरता के गम्भीर सागर हैं। वे आत्मश्लाघा रहित और मधुरभाषी हैं। अपनी माता मूर्ति को ज्ञान देते हुए वाणी की सार्थकता प्रगट करते हैं—

"प्राज्यं च राज्यं च रमणी रमा च,
सर्वं विधात्रा लिखितं ललाटे।
तुच्छं न यावल्लिखिताऽखिलानां
सरस्वती स्वात्महरा नारायणम्"।।

अर्थात् अन्तःकरण को हरण करने वाली वार्णा जब तक न हो तब तक ब्रह्मा द्वारा ललाट पर सब कुछ लिखने पर भी निरर्थक है। नर-नारायण को ब्राह्मी शक्ति प्राप्त प्राप्त है। दो ऋषियों का समानता से वर्णन करते हुए भी कवि सदानन्द ने नर से पृथक् नारायण के महत्त्व को प्रदर्शित किया है। श्रीकृष्ण के रूप से देवकी के घर पर गोकुल में अद्भुत अलौकिक कृत्य नारायण ने किये हैं। इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि कवि नारायण को काव्य का नायक स्वीकार करते हैं। तथापि कवि ने नर को नारायण से पृथक् रखने का प्रयास नहीं किया।

चरित्र-चित्रण

कवि सदानन्द ने नर-नारायण के चरित्र को उदात्त गुणों से युक्त चित्रित किया है। नर-नारायण के जन्म लेने के बाद तपस्या के लिये जाने की अनुमति माता से माँगना भारतीय परम्परा के अनुरूप है। इसमें माता के महत्त्व को व्यक्त किया गया है। कवि ने नारायण के चरित्र को आपादतः दिव्य शक्ति समन्वित चित्रित किया है। अर्जुन के रूप में नर का अवतार तथा कृष्ण के रूप में नारायण के अवतार, लौकिक-अलौकिक शक्तियों के समन्वय के आधार पर दोनों के चरित्र को महत्त्व दिया गया है।

रस निरूपण

महाकाव्य में नर-नारायण की विरक्ति के कारण काव्य में शान्तरस की अविरल धारा प्रवाहित हुई है। काव्य में कवि की भक्ति-भावना व्यक्त है। नर-नारायण के प्रति कवि की भक्ति कथा प्रवाह के साथ अग्रसर हुई है। योग क्रिया से अन्तः प्रवृत्तियों को रोककर उग्र तपस्या से सिद्धि प्राप्त कर लौकिक वस्तुओं की निवृत्ति तथा अलौकिक विभूतियों की प्राप्ति होने पर भी उनके प्रति उदासीनता शान्तरस की अनुभूति में सहायक है। काव्य में शृंगाररस का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। प्रकृति चित्रण, षड् ऋतुवर्णन, अप्सराओं के प्रलोभन तथा दूती को काल्पनिक सन्देश-काल में हास्य रस की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। वीररस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति चतुर्थ सर्ग में सहस्र कवच और नर-नारायण के सहायतार्थ शिवगणों की सेना के आगमन और परस्पर युद्ध प्रसंग में हुई है। वीररस के चित्रण में दानवीय एवं गणसेना का पारस्परिक युद्ध वर्णन नहीं, अपितु महाशक्तियों द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक शक्तियों के उद्भव और विनाश का स्वाभाविक वर्णन साहित्य जगत् का नवीन देन है। शिव गणसेना के प्रहारों से क्षत-विक्षत दानव सेना के चित्रण प्रसंग में बीभत्स रस का सुन्दर समायोजन है। श्रीकृष्ण द्वारा कालीयनागमर्दन तथा कुवलयापिण्ड हस्ति का दमन अद्भुत रस के उत्तम उदाहरण हैं।

छन्द योजना

महाकवि सदानन्द ने छन्दयोजना में अनेक नवीन और प्राचीन छन्दों का उपयोग किया है। प्रथम द्वितीय सर्ग में उपजाति, तृतीय में वसंततिलका तथा सर्गान्त में पूर्व पाँच पद्य प्रहर्षिणी में आबद्ध हैं। चतुर्थ में औपछन्दसिक, वसन्ततिलका एवं पुष्पिताग्रा, पञ्चम सर्ग में स्वागता तथा सर्गान्त में वसन्ततिलका एवं पुष्पिताग्रा आबद्ध है। छठा सर्ग विभिन्न छन्दों में आबद्ध है। सप्तम में प्रहर्षिणी छन्द की प्रधानता, अष्टम में उद्गाता नामक विषमवृत्त के साथ 'गीतिका' नामक खण्ड का समायोजन है। लय प्रधान गीतिका छन्द आधुनिक छन्द का स्वरूप है, यह कवि की मौलिक उद्भूति है। नवम सर्ग में रथोद्धता तथा सर्गान्त में मालिनी, वसन्ततिलका आदि के साथ छन्दों में विविधता है।

अलंकार

इस महाकाव्य में अनुप्रास की विविधता एवं स्वाभाविकता दर्शनीय है। अलंकारों में अनुप्रास,

उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिकर, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, स्वभावोक्ति, भ्रान्तिमान, असंगति, एकावली, विभावना, दीपक आदि अलंकारों का उपयोग है।

दानवी सेना का श्लिष्ट वर्णन करते हुये कवि ने सेना को नदी के रूप में तथा सेना के अंगों में नदी के अंगों का आरोपकर रूपक अलंकार के गुम्फन की समीचीन चेष्टा की है।

प्रकृति-चित्रण

नर-नारायणीयम् काव्य में प्रकृति की छटा अनेक स्थलों में देखने को मिलती है। पर्वत-मालाओं की नैसर्गिक सुषमा का वर्णन दर्शनीय है। हिमालय की प्राकृतिक सम्पदा तथा प्राकृतिक विभूतियों का युद्ध-चित्रण, षड्ऋतुओं का चित्रण, शिशिर ऋतु की समाप्ति तथा बसन्त के आगमन से सम्बन्धित दृश्यों का चित्रण प्रकृति वर्णन में उल्लेखनीय है। शिशिर को परम पुरुष, वासन्ती में नायिका तथा वसन्त में नायक की कल्पना करते हुए प्रकृति चित्रण द्रष्टव्य है।

> **''सा माधवी-सरस-सौरभ-सिन्धुवीर-**
> **व्याकोश हासरुचिरेण चिरेण लक्ष्मीः।**
> **आलिङ्गिता हि शिशिरेण परेण**
> **यूना भीतेव फुल्लसहकारदलेषु लीना''।।**

प्रकृति का मानवीकरण के रूप में चित्रण काव्य में विभिन्न स्थलों पर सुन्दर रीति से हुआ है।

वर्णनशैली

सिद्ध कवि की भाषा में प्रवाह एवं पदलालित्य है। भावानुसारी शब्दों के प्रति कवि विशेष आग्रहशील है। अलंकारों के अधिकांश उपयोग से शब्द गुम्फन में वे सतर्क रहे। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दिया है। समासबहुलता शैली के साथ क्लिष्ट एवं कठिन नवीन शब्दावली को अपनाकर काव्य को एक उत्तम काव्य बनाया है। प्रसाद गुण समन्वित पदावली को महत्त्व देकर वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। वस्तुतः प्रसंगानुसारी शैली का अनुसरण है। माधुर्य एवं प्रसाद गुणों में विशिष्ट शब्दावली समादृत हुई है। विषय को आकर्षक एवं स्वाभाविक बनाने के लिये सूक्तियों का रोचक और आकर्षक उपयोग किया गया है।

सामाजिक चित्रण

नर-नारायण काव्य का कथानक दैवीय शक्ति पर आधृत होता हुआ भी सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण में भी सफल है। सामान्यतः पुत्रों का माता से पृथक होने पर माता मूर्ति की परिवेदना की कल्पना सुन्दर है। पुत्रवत्सलता माता मूर्ति को बाध्य करती है, जिसके कारण लौकिक स्वरूप को उसे ग्रहण करना पड़ता है। परम्परा प्राप्त वैदिक समाज के अनुरूप दोनों पुत्रों ने तप:स्थली में सिद्धि हेतु जाने के लिए माता की अनुमति अपेक्षित समझी। पुरातन समाज का तप: केन्द्र बदरी वन रहा; जहाँ के ऋषि-मुनि ने सदैव आत्मप्रबोध की प्राप्ति के लिए तपस्या की और प्राकृतिक विपदाओं को सहन किया। सुदामा के प्रति कृष्ण की अनुरक्ति आदि दृश्यों के वर्णन में समाज के समत्व भाव को चित्रित किया गया है। सामाजिक विषमता के सूचक सुदामा के तण्डुलों की कहानी को लेखक भूल नहीं सके। वस्तुतः समाज की दैवी और आसुरी प्रवृत्ति के परिणामों को कवि ने अप्रत्यक्षरूपेण काव्य में निबद्ध किया है।

समीक्षा

प्रस्तुत महाकाव्य सर्गबद्ध प्रख्यात दिव्य पुरुष-नायक समन्वित है। इसमें रस, छन्द, अलंकार, प्रकृति-चित्रण, संग्राम, पुत्र-जन्म, वन, नगर आदि विषयों का विवेचन महाकाव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार सदानन्द कवि की कृति सभी दृष्टियों से संस्कृत काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. नर-नारायणीयम् महाकाव्यम्, डॉ. सदानन्द डबराल।
२. नेहरूमहाकाव्यम्, डॉ. शम्भुदयाल अग्निहोत्री।
३. साहित्य और संस्कृति- डॉ. कैलाशनाथ द्विवेदी।

कालिदास की नाट्य कृतियों में हास्यानुसन्धान

डॉ. टी.एल. श्रीमाली

सह आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
श्रीमती आर.आर. पटेल महिला कॉलेज,
टोपलेन्ड विद्याभवन, राजकोट (गुजरात)

हास्य हमारे जीवन का ऐसा अवयव है, जिसे हम किसी भी तरह से अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते। हास्य को भले ही रसराज नहीं कहा जाता हो तथापि इसकी समता में लोकप्रिय रस अन्य कोई नहीं हो सकते। यही कारण है कि विश्व की प्रत्येक जाति एवं धर्म ने मनुष्य के मनोरंजन हेतु हास्य का स्थान सुरक्षित रखा है। हमारे कुछ पर्वों में तो हास-परिहास को आवश्यक अंग के रूप में अंगीकार किया गया है। हास्य उल्लासमय होता है। इसकी स्वच्छ एवं शुचि ज्वाला घोरातिघोर आपदाओं, संकटों और क्लेशों को भस्म कर मानव में प्रकृत आनन्द के स्वरूप को सहज में प्रकट कर देती है।

संस्कृत साहित्य के प्रतिष्ठित महाकवि कालिदास ने अपनी कालजयी नाट्य कृतियों में शृङ्गार रस के साथ ही हास्य को भी विशेष स्थान दिया है। हास्य प्रधान प्रिय पात्र विदूषक के माध्यम से कालिदास ने अपनी तीनों नाट्य कृतियों में व्यञ्जना साभार हास्य से विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की है।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में कालिदास ने हरदत्त-गणदास प्रसंग को हास्य का निमित्त बनाया है। दोनों आचार्यों की बहस उस समय और अधिक मनोरंजन बन जाती है, जब वे इस विवाद को लेकर राजा के पास आते हैं[१]। दोनों आचार्यों के बीच शास्त्रार्थ होना निश्चित होने पर बीच में ही विदूषक का यह कथन—भवति पश्याम उरभ्रसंपातत् किं मुधा वेतन दानेन[२]। किसी की भी हँसी रोक नहीं पाता है। इस सम्पूर्ण प्रसंग में कालिदास का व्यञ्जना सभर हास्य अपने प्रेक्षकों-पाठकों पर विशेष छाप छोड़ता है। (गणदासं विलोक्य) दिष्टया कोप व्याजेन देव्याः परित्रातो भवान्। सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शन न निपुणो भवति[३]। जैसे विदूषक द्वारा कहे गए व्यञ्जना सभर हास्य विधान कालिदास की संवाद-कला को महिमा मण्डित कर देते हैं। इतना ही नहीं परिव्राजिका के सम्मुख जब विदूषक सर्वप्रथम ब्रह्मण की पूजा करने की बात करके निर्धायिका की भूल निकालता है तब परिव्राजिका का प्रत्युत्तर पूर्णतया मनोरञ्जक है—"वाह! क्या नाट्यकला के भीतर की बात पूछी है"[४]। इसी प्रकार विदूषक द्वारा झूठे सर्पदंश का नाटक और तत्सम्बन्धित संवाद अपने प्रेक्षकों को हँसा-हँसा कर लोट-पोट कर देते हैं। जब बड़ी रानी, मालविका का हाथ पकड़ कर राजा के हाथ में देने लगती है तो राजा इस पर लजा जाते हैं। राजा को लजाते हुए देख विदूषक राजा पर चुटकी लेता हुआ कहता है, "भवति एष लोकव्यवहारः सर्वोऽपि नववरो लज्जातुरो भवति"[५]। विदूषक के ये वचन लज्जित एवं गम्भीर राजा अग्निमित्र की हँसी भी नहीं रोक पाते हैं।

राजा अग्निमित्र का मालविका के सम्मुख यह प्रणय निवेदन भी हास्य से परिपूर्ण है—"देखो सुन्दरी! बहुत दिनों से इसी अशोक वृक्ष के समान ही मुझमें भी धीरज के फूल नहीं आ रहे हैं, अतः तुम अपने स्पर्श के अमृत से मेरी उस चिर प्रतीक्षित इच्छा

को पूर्ण कर दो[६]। नाटककार ने शृङ्गाररस के साथ-साथ हास्यरस का कैसा सुभंग-साथ कराया है। मालविका-अग्निमित्र की प्रणयलीला को देखकर अचानक सम्मुख आकर इरावती बोल उठती है—पूरय पूरय। ननु अशोकः कुसुमं दर्शयति। अयं पुष्यति फलाति च[७]। इरावती के ये व्यंग्य सभर वचन सभी को हास्य में डूबो देते हैं।

इस प्रकार मालविकाग्निमित्रम् नाटक में कालिदास ने विदूषक के साथ ही अन्य पात्रों के माध्यम से भी हास-परिहास का प्रयोग कर इसे मनोरंजन एवं प्रभावक बनाया है।

विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी कालिदास ने हास्य को समुचित स्थान दिया है। इस नाटक में भी विदूषक के कथोपकथन सभी को हास्य में डूबो देते हैं। यथा—राजा के प्रेम की बात कहने के लिए उसका पेट वैसे ही फटा जा रहा है, जैसे कि न्यौता जीमने वाले पेटू ब्राह्मण का पेट[८]। उदित होता चन्द्रमा भी भोजन प्रिय विदूषक को खाण्ड का लड्डू प्रतीत होता है[९]। इसी प्रकार विवाहित रानी द्वारा राजा पर कुपित होकर छोड़ चले जाने के बाद राजा-विदूषक के संवाद में विदूषक का यह कथन कि 'जैसे रोगी को असाध्य समझकर वैद्य उसे छोड़ देता है वैसे ही आपको भी देवी ने यह समझ कर छोड़ दिया कि अब आप नहीं सुधर सकते[१०]।' कितना अधिक हास्य सभर लगता है।

इसी प्रकार राजा जब उर्वशी द्वारा उत्पन्न अपने पुत्र आयुष के बारे में पता चलने पर इस सम्पूर्ण रहस्य के बारे में विदूषक से प्रश्न करता है तो इसके प्रत्युत्तर में विदूषक का यह कथन—"इसलिए कि कहीं राजा मुझे बूढ़ी समझ कर छोड़ न दें।"[११] ऐसे ही प्रथम अङ्क में कैशी राक्षस के चंगुल से छुड़ाकर लाई गयी उर्वशी और चित्रलेखा का पारस्परिक हास-परिहास। रथ में बैठी हुई उर्वशी के अङ्गों का स्पर्श जब राजा के अङ्गों से होता है तो उर्वशी चित्रलेखा से थोड़ा खिसकने को कहती है इस पर चित्रलेखा कहती है "मुझसे तो हटा नहीं जा रहा"[१२]। इसी प्रकार एकावली-प्रसंग में भी सुन्दर हास्य प्रकट होता है—उर्वशी कहती है अरे लो! इस लता की शाखा में मेरी वैजयन्ती माला ही फँस गयी। (घूम कर राजा को देखती है) सखी चित्रलेखा! आकर इसे छुड़ाओ तो! तभी अपनी सखी की वास्तविक स्थिति को समझने वाली चित्रलेखा हँसते हुए कहती है—"अरे! यह तो बड़ी बुरी फँस गयी है। नहीं छूट पा रही है?"[१३] इस प्रकार विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी कविवर कालिदास को जहाँ भी अवसर मिला है वे हास्य प्रयोग करने से नहीं चूके हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रारम्भ में ही शकुन्तला का सखियों के पारस्परिक वार्तालाप में हास्य के दर्शन होते हैं। प्रियंवदा अनसूया से पूछती है कि शकुन्तला वनज्योत्सना को इतना अधिक क्यों देखती है? अनसूया के मनाकर देने पर प्रियंवदा स्वयं ही परिहास पूर्वक उत्तर देती हुई कहती है कि 'जिस प्रकार वनज्योत्सना को अपने ही अनुरूप वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी अनुरूप वर मिल जावे'[१४]। सखियों के इस वार्तालाप में पदे-पदे हास्य का निरूपण करने का कालिदास ने सफल प्रयास किया है।

इस नाटक में विदूषक की उक्तियाँ तथा क्रिया-कलाप दोनों ही हास्य का वातावरण बनाए रखने में सफल हुए हैं। दुष्यन्त जब विदूषक से सहायता माँगता है तब विदूषक अपनी भोजन प्रियता के कारण कह उठता है कि क्या लड्डू खाने के काम में?[१५] इसी तरह अन्यत्र विदूषक राजा को सलाह देता हुआ सहज ही हास्यपूर्ण विधान करता है—त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ[१६]। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में हास्य के साथ-साथ व्यंग्य मिश्रित हास्य के भी

जगह-जगह दर्शन होते हैं। यथा—षष्ठ अङ्क के धीवर प्रसंग में धीर और राजश्यालक के संवादों में राजश्यालक कहता है—"तब तो बड़ी जीविका ले रखी है"। तो धीवर कहता है कि आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो जिसका पैतृक कर्म है उसे उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिए चाहे भले ही लोग उस कर्म की निन्दा ही क्यों न करें[१७]। और आगे जब धीवर राजाज्ञा से मुक्ति पाता है और साथ में पुरस्कार भी प्राप्त करता है। तभी वह राजश्यालक से पूछता कहिए कैसी है मेरी आजीविका?[१८] आप तो इसे जघन्य बताते थे। यहाँ पर व्यंग्य युक्त हास्य देखते ही बनता है, यही तो कालिदास की संवाद कला है जो अपनी रचनाओं को प्रतिष्ठित करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कालिदास की नाट्य कृतियों में हमें अति स्निग्ध एवं शिष्ट हास्य के दर्शन होते हैं। कालिदास के विदूषक की विशेषता बताते हुए डॉ. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि—'कालिदास का विदूषक कभी भी अश्लील रिमार्क करता हुआ नहीं पाया जाता। वह औदरिक है—पेट पूजन के प्रति उसकी विशेष आसक्ति है और इसीलिए उसकी बातचीत में, उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में इसी विषय के सम्बन्ध में विशेष चर्चा है। कहीं भी किसी पर भी वह अश्लील आक्षेप कभी नहीं करता'[१९]। वास्तव में कालिदास का हास्य विशुद्ध हास्य है। एक बात और भी है कि हास्य जितना सरल होता है उसकी रचना उतनी ही मुश्लिक होती है। वह आकाशीय बिजली जैसा चमत्कार होता है, अतः किसी भी कृति में उसका सातत्य बहुत ही मुश्किल होता है। हास्य की इस मर्यादा के साथ कालिदास ने अपनी नाट्यकृतियों में जिस तरह से हास्य को निरूपित किया है वह सचमुच प्रशंसनीय है।

सन्दर्भ-सूची

१. अलमलं बहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयो-र्व्यक्तर्भविष्यति। मालविकाग्निमित्रम्, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, प्रथम अङ्क-नेपथ्य, पृ. ९८
२. मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अङ्क, पृ. १०४
३. वही, पृ. १०६
४. वरिव्राजिका- अहो! प्रयोग्याभ्यन्तरः प्रश्नः। मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अङ्क- पृ.सं. ११६
५. मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क, पृ. १८८
६. धृतिपुष्पमयमपि जनो बधनाति न तादृशं चिरात्प्रभृति। स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यः रूचेः।। (मालविकाग्निमित्रम्, ३/१९, पृ. १४०)
७. मालाविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृ. १४१
८. विक्रमोर्वशीयम्, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, द्वितीय अङ्क, पृ. १६
९. विक्रमोर्वशीयम्, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, द्वितीय अङ्क, पृ. २०
१०. विदूषक—भण विश्रब्धं यदासि वक्तुकामः। असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्रभवत्या। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क-५६
११. विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चमो अङ्क-८६
१२. वही, प्रथम अङ्क, पृ. १३
१३. चित्रलेखा—(सस्मितम्) दृढं खलु लग्ना। दुर्मोचनीयेव मम प्रतिभाति। भवतु यतिष्ये तावत्। विक्रमोर्वशीयम्, प्रथम अङ्क, पृ. १४
१४. प्रियंवदा—यथा वनज्योत्सनारूपेण पादपेन संगता। अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पार्श्व पब्लिकेशन, अहमदाबाद, प्रथम अङ्क, पृ. १२
१५. विदूषक—किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्यं सुग्रहीतः क्षणः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृ. २६
१६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्
१७. वही, षष्ठ अङ्क, पृ. ९५
१९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. बलदेव उपाध्याय, पञ्चम संस्करण १९५८, पृ. १६४

वैदिक वाङ्मय में सूर्यदेवता

डॉ. वन्दना आर. मिश्रा
प्राध्यापिका, संस्कृत-विभाग,
सी.यू. शाह यूनिवर्सिटी, वढवान
सुरेन्द्रनगर (गुजरात)

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।।

(ऋग्वेद १०/१४/१५)

वेद भारतीय धर्म और संस्कृति के आदिस्रोत हैं। कई देवताओं की सत्ता, प्रभाव और व्यापकता में विश्वास भारतीय धर्म का विशिष्ट अंग है। वैदिक ऋषियों ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और अलौकिक कल्पनाशक्ति के द्वारा अनेक देवताओं की अवधारणा की थी। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में विभिन्न देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य सञ्चालित होता है। भारत एक ऐसा देश है, जो विज्ञान और दर्शन के बीच परस्पर विरोध की गहरी खाई को दूर कर सकता है, क्योंकि हमारे पास ही एक उच्च दार्शनिक पृष्ठभूमि भी है और साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक प्रकृति भी। अब समय आ गया है कि वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों में निहित प्रज्ञा का विश्व में प्रचार-प्रसार किया जाय। इसी उद्देश्य से मैंने भी मेरे इस लेख में 'सूर्य' नामक एक शक्तिशाली देवता के स्वरूप को निरूपित करने का यत्किञ्चित् प्रयत्न किया है।

वैदिक मन्त्रों में देवताओं के स्थूल-सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना है। विद्वानों ने उनके नाम, रूप, गुणों की विविध व्याख्याएँ की हैं। वैदिक देवताओं के स्वरूप के विकास की समीक्षा के लिए पुराण साहित्य में विपुल सामग्री है। संस्कृत का विशाल स्तोत्र साहित्य भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

सूर्य इस जगत् में ऊर्जा के सबसे महान् शक्तिसम्पन्न स्रोत माने जाते हैं, इसीलिए विश्व के अनेक भागों में वे देवता के रूप में पूजे जाते हैं। भारतीय लोग उन्हें पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष आदि लोकों, स्थावर व जङ्गम पदार्थों तथा अग्नि, वरुण, मित्र आदि सभी देवताओं की आत्मा मानकर उनकी गायत्री मन्त्र[१] द्वारा अर्चना करते हैं। और उनसे अपनी बुद्धि को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा परिकल्पित देवताओं में से सूर्यदेवता की स्तुति युग-युगान्तर तक प्रचलित रही है। सूर्य प्रकृति की वह सर्वोच्च शक्ति हैं, जिसे हम प्रतिदिन देखते और अनुभव करते हैं। भारत में सभी कालों और सभी वर्गों के लोगों ने सौर-मण्डल की भव्यता और सुन्दरता की ओर आकृष्ट होकर प्राणी-जीवन की सृष्टि और अवस्थिति के लिए सूर्य की महत्ता को स्वीकार कर उन्हें एक महान देवता के पद पर सुप्रतिष्ठित किया है। भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार तेजोमय सूर्यमण्डल में ब्रह्मरूप पुरुष विराजमान है। अतएव सूर्य परम सत्ता के सर्वोत्तम प्रतीक हैं। ब्रह्म का वाचक एकाक्षर ॐ भी उनसे सम्बद्ध है। सूर्य की उपासना का प्राचीनतम साहित्यिक प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में मिलता है। गणेश, शक्ति, शिव, विष्णु और सूर्य इन पुराणप्रसिद्ध पञ्च देवों में सूर्यदेवता अन्यतम हैं। जैसे कि—

'प्रत्यक्षं देवता सूर्यो जगच्चक्षुर्दिवाकरः।
तस्मादभ्यधिकार काचिद् देवता नास्ति शाश्वती''।।

(भवि.पु. १/४८/२१)

कुषाणकाल में कुषाण सम्राट् स्वयं सूर्योपासक थे। गुप्त सम्राटों के समय में विष्णु और शिव के अतिरिक्त सूर्योपासना के अनेक उल्लेख मिलते हैं, जैसे कि, मन्दसोर शिलालेख का प्रारम्भ भगवान् भास्कर की वन्दना से हुआ है। भारत के मध्यकालीन इतिहास का पूर्ववर्ती काल सूर्योपासना का स्वर्णिम युग रहा है। लगभग ११वीं शताब्दी में निर्मित कोणार्क का भव्य सूर्यमन्दिर उस युग के जनमानस की सूर्यभक्ति का प्रतीक है। निश्चय ही सूर्यदेवता ने ऋग्वेदकाल से लेकर आजतक भारतीय देवमण्डल में विशेष सम्मान प्राप्त किया है।

भारत में सूर्योपासना का इतिहास जितना लम्बा है, उतना ही रोचक उनके स्वरूप का विश्लेषण है। अनेक प्रकार की प्राचीन और मध्यकालीन सूर्यप्रतिमाएँ आज देश के पुरातत्त्व विभाग की अमूल्य सम्पत्ति है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताएँ तथा ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सूर्य और सविता आदि सौर देवताओं के अनेक सूक्तों और मन्त्रों का साक्षात्कार किया है। सूर्यदेवता के स्वरूप पर प्राचीन आचार्यगण शौनक, यास्क, सायण आदि ने, स्वामी दयानन्द सरस्वती, अरविन्द, सातवलेकर आदि विद्वानों ने तथा मैकडोनल, मैक्समूलर, कीथ, ऑल्डनबर्ग आदि विचारकों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये है।

वैदिक ऋषि सामान्यतया प्रकृति के उपासक थे, अतः उन्होंने प्रकृति के विविध तत्त्वों में देवभावना का आरोपण करके उनकी स्तुतियाँ की थी। प्रकृति के विविधरूपों में विद्यमान एक दिव्य चेतनशक्ति का देवाधिदेव के रूप में उन्होंने दर्शन किया था, जो जगत् की प्रत्येक क्रियाशीलता में व्याप्त है। समस्त ब्रह्माण्ड को द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। यास्काचार्य के मतानुसार द्युस्थानीय देवता सूर्य, वरुण आदि, अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र, वायु आदि तथा पृथिवीस्थानीय देव अग्नि, सोम आदि हैं।

सूर्य आकाशस्थित भौतिक ज्योतिष्पिण्ड के देवता हैं। प्रकृति के सर्वशक्तिमान होने से समस्त प्राकृतिक गतिविधियों के वे केन्द्रबिन्दु हैं। कर्तृत्वबोधक देवों में 'सविता' प्रमुख है। ऋक्. ५/८१/५ मन्त्र में कहा गया है—

''उतेशिये प्रसवस्य त्वमेक इत्''। यास्काचार्य ने भी निरुक्त १०/३१ में कहा है—''सविता सर्वस्य प्रसविता''। उनके मतानुसार, अत्यधिक ऐश्वर्यसम्पन्न होने से एक देवता की भी कार्य और कारण भेद से कई प्रकार और कई नामों से स्तुति की जाती है। तभी तो ऋ. ८/५८/२ में कहा गया है—''एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः''। सायणाचार्य दृढ़ रूप से परम शक्तिसम्पन्न सूर्य में सर्वदेवत्व का आरोपण करते हैं कि, ''एकैव वा महानात्मा देवता स सूर्यः इत्याचक्षते''। बृहद्देवता में शौनक ने सूर्य के सविता, भग, पूषा, विष्णु, केशिन्, विश्वानर, वृषाकपि इन सात नामों का उल्लेख किया है[3]।

ऋकसंहिता में 'सूर्य' एक महान् और व्यापक देवता का नाम है और विविध रूपों के वाचक है, यथा—सूर्य का भौतिक रूप 'सूर्य', प्रेरकरूप 'सविता', पोषकरूप 'पूषा', व्यापनशीलरूप 'विष्णु', सहायक-रक्षकरूप 'मित्र', भजनीयरूप 'भग', देदीप्यमानरूप 'विवस्वान्' है। इन सबमें कई सौर देवताओं का बोध होता है और सभी प्राकाश तथा तेज से सम्बद्ध हैं। इन सबको अतिशय वैभव के अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों के दर्शक, निरीक्षक, मृतकों को उचित स्थान पर ले जाने वाले, अन्धकार के निवारक, कामनाओं के वर्षक और मनुष्यों को निष्पाप करने वाले कहे गये हैं।

यास्काचार्य ने 'सूर्य' शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ की हैं—

(१) 'सूर्य' शब्द गत्यर्थक √सृ से व्युत्पन्न है, अर्थ है—अन्तरिक्ष में गमनशील।

(२) प्रेरणार्थक √सू से निष्पन्न, अर्थ है—समस्त जगत को प्रेरित करने वाला।

(३) 'सु' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक √ईर से बना, अर्थ है—शोभनरूप से गमन करते हैं अथवा वायु के द्वारा भूलोक के प्रति प्रेरित किये जाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, 'शोभनवीर्य से सम्पन्न होने से सूर्य का सूर्यत्व है'[४]।

ऋग्वेद में सूर्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु, मित्र, अग्नि आदि अनेक देवताओं का उल्लेख है और उनसे सम्बन्धित सभी मन्त्रों में सूर्य के भौतिक प्रकाश की ओर संकेत है। वसिष्ठसूक्तों में सूर्य का जन्म 'उषा' द्वारा कहा गया है। ऋग्वेद में सूर्य की माता अदिति हैं, इसलिए 'आदित्य', 'आदितेय' सूर्य विशेषण इसी के ही आधार पर है। पिता 'द्यौ' है, क्योंकि वे 'दिवस्पुत्र' हैं। अथर्ववेद ४/१०/५ के अनुसार सूर्य का जन्म वृत्र से बताया गया है—"वृत्राज्जातो दिवाकरः"। क्योंकि मेघरूप वृत्र से अनाच्छादित होकर सूर्य प्रकट होते हैं।

पुरुषसूक्त, ऋ. १०/१०/१३ के अनुसार सूर्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के चक्षु से हुई है—"चक्षोः सूर्यो अजायत"।

जिस प्रकार सांसारिक जीवन में भाई भाग-ग्रहण करता है। उसी प्रकार वृष्टि के लिए रस ग्रहण से वायु का और रात्रि में सूर्य से तेज लेने से अग्नि का सूर्यदेवता के प्रति भाईचारा है। सूर्य का एक विशेषण 'सप्तपुत्र' भी है। जिससे सूर्य की सात रंग की किरणों में उनके पुत्रभाव की प्रतीति होती है। सूर्य की तीन पत्नियों का वर्णन 'निरुक्त'[५] और 'बृहद्देवता'[६] में प्राप्त होता है, जैसे कि, सूर्योदय से पूर्व उषा, मध्याह्न में सूर्या और सूर्यास्त के समय वृषाकपायी! ऋषि की उत्प्रेक्षा है कि सूर्य उषा का अनुसरण वैसे करते हैं जैसे कोई पुरुष सुन्दर स्त्री का। ऋषियों ने सूर्योदय से सूर्यास्त तक की समस्त प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। सूर्य उदयाचल को आक्रान्त करके उदित होते हैं। फिर पूर्व दिशा में माता पृथिवी को प्राप्त करते हैं, पश्चात् पिता द्युलोक की ओर शीघ्रता से जाते समय अत्यन्त शोभायमान होते हैं। अतः सूर्य की प्रकाशमयी दीप्ति आकाश और पृथिवी के मध्य में चलती है। सभी प्राणियों की सूर्य के प्रति समान भावना की पुष्टि तैत्तिरीय संहिता में भी देखी जाती है—

"तस्मात्सर्व एव मन्यते त्वां प्रत्युद्गात्"।

(तै.सं. ६/५/८/२)

विश्व-कल्याण के लिए ही सूर्य के अश्व उनके रथ को खींचते हैं।

ऋग्वेद में सूर्य को सभी ज्योतियों में उत्तम ज्योति कहा गया है, क्योंकि वे सभी ज्योतियों के प्रकाश कारण है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य मूल ज्योति हैं। शतपथब्राह्मण में कहा गया है—"असौ वा आदित्यो (सूर्यः) बृहज्ज्योतिः"। (श.ब्रा. १/९/३/१६), यजुर्वेद में भी कहा है—"एष वै श्रेष्ठो रश्मिः यत् सूर्यः"। सायण ने इसे 'द्योतमान' अर्थ में ग्रहण किया है (यजु. २/३६)। ऋग्वेद के सूर्यसूक्तों में सूर्य का प्रकाशरूप सुस्पष्ट है। विश्व के प्रकाशक या द्रष्टा होने से वे विश्वचक्षाः हैं। सूर्य का उदय दिन का सर्जन और रात्रि का नाश करता है, इसलिए वे अन्धकारनिवारक भी हैं। (ऋग्वेद ७/६/३/१) में कहा गया है—'चर्मेव यः समविव्यक तमांसि'। सूर्य के अभाव में समग्र जगत् अन्धकारपूर्ण है इसकी तथ्यता ऋषि ने अपनी स्तुति द्वारा की है कि—"जब उनको स्वर्भानु नामक असुर ने तम से आच्छादित कर लिया था, तब सकल भुवन ऐसे दिखाई दे रहा था जैसे वहाँ सभी प्राणधारी असत्य

हों"। वस्तुत: सूर्य के दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं।

सूर्य प्रकाशक होने से द्रष्टा भी हैं, वे मनुष्यों के सभी कर्मों को देखते हैं—'पश्यञ्जन्मनि सूर्य'। ऋ. १/५०/७ में वे प्राणियों के भले (यजु) और बुरे (वृजिनः) कर्मों को देखते हैं। सभी की दर्शनशक्ति का मुख्य आधार सूर्य हैं। मनुष्यों के नेत्रों के साथ सूर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि वस्तुत: वे ही नेत्रों का तेज है। ऋषि ने अपने चक्षुओं के लिए सूर्य से 'चक्षु' की याचना की है। सूर्य को चक्षु के रूप में मानना वैदिक ऋषियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधृत है। श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक अर्थ में सूर्य मानवीय चेतना पर उदित होने वाले सत्य का प्रकाश हैं, वे ही स्रष्टा और सर्वदृष्टा हैं। वे मानव जाति के प्रेरक, उद्बोधक, सभी व्यापारों के हेतुस्वरूप और विश्वकर्मा के रूप में स्तुत्य हैं। ऋषियों ने अपनी ऋचाओं में उनके 'वर्षक' रूप की स्तुतियाँ की हैं। सूर्य की अत्यधिक तेज सम्पन्न रश्मियाँ पृथिवी से जल को दोहन करती है और उसका पान करती है[७]। सूर्य-रश्मियाँ रस का हरण करती हैं और सूर्यमण्डल उन्हें धारण करता है। सायण ने सूर्य को 'उदकप्रद' और वेङ्कटमाधव ने 'उदकवान्' अर्थ में अर्णवः कहा है। "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा:" की सूर्यपक्ष में व्याख्या करते हुए सायण ने 'वृषभ' को 'वर्षिता' सूर्यदेव कहा है। वृष्टिप्रदाता होने से सूर्य शस्योत्पादक भी हैं।

ऋग्वेद में सूर्यसूक्तों में काल-निर्धारण में सूर्य के महत्त्व को सविशेष ध्यान में लिया गया है। अहोरात्र के कर्त्ता के रूप में अनेकश: उनका उल्लेख हुआ है। (ऋ. ४/५८/३) की सूर्यपक्षीय व्याख्या में सायण ने रात और दिन को सूर्य की दो सिर (द्वे शीर्षे) और सात ऋतुओं को सूर्य के सात हाथ (सप्त हस्तासो अस्य) कहा है। सायणाचार्य और सातवलेकरजी ने यहाँ स्पष्ट रूप में सूर्य का ग्रहण करते हुए उन्हें बारह महीनों के रूप में बारह आकृतियों वाला और पाँच ऋतुओं के रूप में पाँच पैरों वाला (सायण) अथवा अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन-रात के रूप में पाँच पैरों वाला (सातवलेकर) मानकर काल नियामक के रूप में स्वीकार किया है। ये सूर्य संवत्सररूपी रथ पर चढ़ते हैं, जो सात चक्रों (अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन, रात, मुहूर्त) वाला और छह ऋतुरूपी छह अरों वाला है[८]।

ऋग्वेद के स्तोता ने 'इष्टप्रदाता' के रूप में सूर्यदेवता के प्रभुत्व का विविध चित्रण किया है। वे अन्न या बल के श्रेष्ठ दाता हैं, इसलिए उनसे धन की याचना की गई है। प्रत्येक परिस्थिति में उनका सुखकारी रूप उपासक का अभीष्ट है। सूर्य से भद्र के साथ-साथ चिरकाल तक जीवन धारण करते हुए वृद्धत्व प्राप्ति की कामना की गई है। चिरकाल तक सूर्य को देख सकने की इच्छा में दर्शनशक्ति के साथ-साथ पूर्णायु की अभिलाषा भी निहित है[९]। एक जगह सूर्यदेव को सम्बोधित करके कहा गया है—"हम सर्वदा प्रीतियुक्त, शुभमन-सम्पन्न, उत्तम दर्शन वाले, सुसन्तानों से युक्त, निरोग और निरपराध हों तथा जीवित रहते हुए निरन्तर उदीयमान तुम्हारा दर्शन करते रहें"। (ऋ. १०/३७/७)

सायण के अनुसार सूर्य को 'अनिष्टनिवारक' अर्थ में 'वरुण' सम्बोधन दिया गया है—'त्वं वरुण पश्यसि'। ऋकसंहिता का एक सम्पूर्ण सूक्त—ऋ. १/१६१ विषशङ्कायुक्त मैत्रावरुणि अगस्त्य ऋषि द्वारा विषनाश के लिए सूर्य की स्तुति है। इस सूक्त को विषघ्नोपनिषद् भी कहते हैं। इसमें दृष्ट-अदृष्ट समस्त विषधरों के हन्ता सूर्य हैं। लाक्षणिक अर्थ में संकेत है कि अनेकविध-चिन्ताएँ, आशङ्काएँ, अज्ञान सूर्योदय पर प्राय: नष्ट हो जाते हैं। ऋचाओं में स्तुत्य रोग-निवारक के रूप में सूर्यदेवता नि:सन्देह मानवमात्र के स्वास्थ्य का मुख्य आधार हैं। आज भी रोगशान्ति

के लिए ऋग्वेद के मन्त्रों की उपासना की जाती है। वहाँ कहा गया है, "सूर्यदेव आज उदित होते हुए हमारे हृदयरोग, पीलिया जैसे रोग नष्ट कर दें"। सूर्य-प्रकाश अनेक रोगों की उत्तम औषधि है। सायण के अनुसार सूर्य के 'तरणिः' विशेषण का अर्थ ही है—'उपासकों को रोग से तारने वाले'।

सूर्य के पोषक, रक्षक गुणों की भी अत्यधिक महत्ता सूर्यसूक्तों और ऋचाओं में देखी जाती है, इसी वजह से वे 'पूषन्' और 'मित्र' नाम से उद्‌बोधित हैं। विश्वसंरक्षक और जनहितकारी सूर्य अपने तेज से सब लोगों का पोषण करते हैं। 'एकचक्र' कहा है तो कभी 'सप्तचक्र' भी कहा गया है। उनका रथ यदि सूर्यमण्डल है, तो चक्र संवत्सर है। चक्र की तीन नाभियाँ, तीन ऋतुएँ अथवा भूत, वर्तमान, भविष्य तीन काल हैं और द्वादश अराएँ, मेष आदि द्वादश राशियाँ अथवा द्वादश मास हैं। निघण्टु के अनुसार 'हरित' आदित्य के वाहक अश्वों का नाम है निःसन्देह सूर्य के हरितवर्ण सात अश्व उनकी सात रश्मियाँ हैं। उनके अश्व अर्थात् किरणें कल्याण करने वाली जल हरण करने वाली विलक्षण, आनन्ददायक, सतत गतिशील हैं। रेले ने मौलिक उद्‌भावना करते हुए मनुष्य के मध्य मस्तिष्क में स्थित प्रमुख प्रेरक केन्द्र को सूर्य कहा है और उनके रथ को खींचने वाले सात अश्वों को उस केन्द्र से इन्द्रियों के विशेष अंगों तक जाने वाले अपवाही स्नायु-तन्तु माना है[१०]।

सूर्य तेज, बल, वीर्य द्वारा महान् हैं। वे प्रायः सभी कर्ता और स्थावर-जंगम के आत्मा हैं। उनके उदित होने से समग्र जगत् चेतनयुक्त हो जाता है, इसलिए उन्हें प्रजाओं का प्राण कहा गया है[११]। सूर्य की महिमा की चरमसीमा है, उनका सर्वदेवत्व या ब्रह्मत्व। ऐतरेय ब्राह्मण में भी उनका यह रूप वर्णित है—"हंसः शुचिषदित्येष वै हंसः शुचिषत्"। (ऐ.ब्रा. ८/२०) वे अन्य देवताओं के रूपों को धारण कर सकते हैं। उनके द्वारा ही अन्य देवता अस्तित्ववान् हैं।

बलदेव उपाध्याय के अनुसार, एक सूर्य-मन्त्र उनके विविध रूपों का स्पष्ट वर्णन करते हुए ऋषि ने बताया है कि, उत्, उत्+तर, (उत्तर) उत्+तम (उत्तम) जो माहात्म्य में क्रमशः बढ़कर हैं, जैसे कि भौतिक अन्धकार के निवारण में समर्थ उनकी ज्योति 'उत्' है, देवों के मध्य में देवरूप ज्योति 'उत्तर' है और दोनों से बढ़कर विशिष्ट ज्योति 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक और कार्यकारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं।

मैक्समूलर ने सविता में व्यक्तिगत तथा दिव्य तत्त्वों को अधिक विकसित माना है। ऋग्वेद में सविता एक सौर देवता हैं और उनकी स्तुतियों द्वारा सूर्य की प्रेरक शक्ति का गुणगान किया गया है। सविता से पृथिवी उत्पन्न हुई है, अन्तरिक्ष निर्मित हुआ है और द्यावापृथिवी विस्तीर्ण हुई है। यहाँ सायण कहते हैं—"उदत्यात्पूर्वभावी सविता उदयास्तमयवर्ती सूर्यः"। वैंकटमाधव के मत में प्रातःकाल जल से उदित होने के कारण वे 'अपां नपात्' हैं।

सविता देव ऋतुओं का निर्माण करते हैं। 'उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत'—(ऋ. ५/८१/५) ऋचा में सविता को समस्त प्रसव का शासक और स्वामी कहा गया है।

ग्रिसवाल्ड उन्हें प्रेरणा का स्वामी बताते हैं। तेजस्वी सविता के अस्त होने पर पर शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखने वाला वीर अपने आक्रमण को रोक देता है और सदैव काम करने वाला आधे किए हुए काम को छोड़कर घर आ जाता है। (ऋ. २/३८/६) इसी तरह ऋ. ४/५८/२,४,५ मन्त्रों के अनुसार वे यजमानों को गृह से युक्त निवास प्रेरित करते हैं, देवताओं को अमृतत्व और मनुष्यों को पुत्रपौत्रादि प्रदान करते हैं। गायत्री मन्त्र, 'धियो यो

नः प्रचोदयात्'—(ऋ. ३/६२/१०) के मत से वे कर्म अथवा धर्म से सम्बद्ध बुद्धि को प्रेरित करने के लिए प्रार्थित हैं। व्हिटनी का मत है कि इस मन्त्र की पवित्रता का कारण यह है कि इसमें सविता का सूर्य के साथ तादात्म्य व्यक्त किया गया है। ऋग्वेदसंहिता के कई सूक्तों और मन्त्रों में सूर्य, पूषा के रूप में भी देखे जाते हैं। वे पोषक, पशुपालक, मार्गज्ञाता, मार्गसंरक्षक, पृथीनामधिपतिः, समृद्धिदाता, शत्रुविनाशक, उपासकों के सखा, यज्ञनिर्वाहक आदि स्वरूप के कारण ऋग्वेद में एक स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कई बार 'उड़ने वाले अश्व' के रूप में भी वे वर्णित हैं। व्यापनशीलता, गमनशीलता को विष्णु का प्रधान गुण माना गया है। ऋग्वेद में इनकी स्थिति सूर्यदेवता के एक रूप विशेष प्रतिनिधि देवता की है।

आप्टे के मत में विष्णु सम्भवतः सूर्य की क्रियात्मक शक्ति के प्रतिरूप हैं। एक ऋचा में उनके विष्णु का 'आदित्यात्मा'[१२] स्वरूप दर्शाया है, फिर भी सूर्य को जन्म देने या प्रकाशित करने का श्रेय विष्णु को दिया गया है।

ऋ. २/२७/१ के आधार पर द्युस्थानीय आदित्यगण में मित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मित्र के रूप में सूर्य की धारक, रक्षक, सहायक, वर्षक के रूप में सार्थकता है। अतः ऋग्वेद में मित्र सूर्य का वह रूप है जो प्राणिमात्र के लिए उनके हितकारी स्वरूप का बोध कराता है। आदित्यगण के एक अन्य देवता 'भग' जिनकी स्तुति ऋग्वेद में सविता देवता के साथ की गई है।

पाश्चात्य विद्वान् वेलिस् के मत से प्राचीन सूर्योपासना में मन्त्र का सौर स्वरूप में अस्तित्व रहा है[१३]। संहिता में वे वैभव, सम्पत्ति, भद्र, सौभाग्य के अभिप्राय में है और वैदिक विद्वानों ने इसे देनेवाला, विभाजनकर्त्ता, वितरणा करने वाला अर्थ में प्रयुक्त किया है। अतएव ऋग्वेद में भग को सूर्य के धनवान, दानशील, भुजनीय, सुरक्षाप्रिय रूप का प्रतिनिधि देवता मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

ऋग्वेद में 'विवस्वान्' को एक सूर्य सम्बद्ध, सौर देवता के रूप में अनेक विद्वानों ने स्वीकारा है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी सूर्य के रूप में व्याख्या की है। जैसे कि—

(१) केगी—प्रातःकालीन सूर्य के रूप में (२) ब्लूमफील्ड—सूर्य का प्रारम्भिक रूप, (३) रेनो, कीथ, ग्यून्तेर्त—सौर देवता के रूप में (४) जे.एन. बेनर्जी—सूर्य का उदयकालीन रूप, (५) त्रिपाठी—भौतिकस्वरूप के प्रतिनिधि देवता, (६) बर्गेन अग्नि का एक स्वरूप। श.ब्रा. ३/१/४ और तै.सं. ६/५/६/२ के अनुसार सम्पूर्ण मनुष्य विवस्वान् की सन्तान हैं। सूर्य का देदीप्यमानरूप उनके उदीयमानरूप का प्रतिफल है।

इस प्रकार सूर्य देवता की विशालता और महनीयता ऋकसंहिता में उनके अनेक रूपों और नामों की उद्भावना का आधार रही है। उनके सविता आदि कुछ नाम पर्याप्त और महत्त्वपूर्ण रूपों के वाचक होने से स्वतन्त्र देवताओं के अभिधान बन गये हैं, तो अयम्न् आदि कुछ दूसरे नाम गौण सौर देवताओं के स्तर तक ही रह जाते हैं।

ऋकसंहिता में वर्णित सूर्यदेवता के स्वरूप के क्रमिक विकास के अध्ययन के लिए वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रन्थों में प्राप्त सूर्य-स्तुतियों का अध्ययन बहुत ज़रूरी है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता में सूर्य को ज्योति और ज्योति को सूर्य कहा गया है। यहाँ आदित्य नामक सूर्यसम्बद्ध देवता भी स्तुत्य है और वे भौतिकरूप तथा ब्रह्मरूप से बोध होता है। यजुर्वेदीय ऋषियों के मत से सूर्य स्वयं यज्ञरूप हैं, इसलिए उनका अग्नि से तादात्म्य है। यहाँ सूर्य को दिवस

रात्रि को मिलाने वाला (संहितः), पृथ्वी को धारण करने वाला (गन्धर्वः) तथा उनकी आयुवर्धक रश्मियों को आयुषः नामक अप्सराएँ कहा गया है[१४]। उनका चक्षु के रूप में वर्णन होने से वे नेत्रदोष-निवारक और चक्षुः प्रदाता माने गये हैं।

भाष्यकार महीधर ने सूर्य के "ब्रह्म तथा सूर्य" अर्थात् निर्गुण और सगुण दो रूपों का प्रतिपादन किया है, जैसे कि, एक रूप अनन्त ब्रह्म जो शुक्ल और दीप्तिमान् रूप है और दूसरा कृष्णवर्ण, जो इन्द्रियग्राह्य है।

यजुर्वेद की संहिता के मन्त्रों में सविता "प्रेरकों के ईश्वर" हैं। शुक्ल यजुर्वेद संहिता में गायत्री मन्त्र सविता की प्रेरणा की प्रसिद्धि का भी द्योतक है। सविता को भग, पूषा भी कहा गया है। वे सूर्य का एक रूप हैं, इसलिए उनकी अपरिमिति दीप्ति आकाश में सबसे ऊपर प्रतिष्ठित है। सविता से प्रार्थना करने से दीर्घकालीन रोगों से मुक्ति होती है। उन्हें छह ऋतुओं का विजेता, सोमरक्षक, ज्योति का कर्त्ता, सबमें व्याप्त, सर्वज्ञ, सर्व देवताओं का आश्रय कहा गया है[१५]। यज्ञ को प्राधानता देने वाली यजुर्वेद-संहिताओं में 'विष्णु' प्रायः 'व्यापक यज्ञपुरुष' या 'यज्ञरूप' में ग्रहण किये गये हैं। विष्णु के परमं पदम् की व्याख्या महीधर और उव्वट ने 'आदित्यमण्डल' के रूप में की है। आचार्य सायण के मत से मित्र सूर्य का वाचक है। "विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीशः" मन्त्र में विवस्वान् को सम्बोधित किया गया है, जिनको उव्वट और महीधर ने सूर्य का विशेषण पद माना है—वा.सं. ८/५ अर्यमन् अपने यजमान को अखण्ड तेज, आयु प्रदान करते हैं। वे धन, सुख, कल्याण की कामना के लिए आहवनीय हैं, इसलिए आदित्यगण के एक देवता के रूप में अधिक प्रतीत है। द्वादश आदित्यों में सूर्य मुख्य हैं, यास्क का भी यही मत है[१६]।

'सामन' का आधार ऋचा ही है—"ऋचि अव्यूढं साम गीयते"[१७]। सामवेद में भी ऋग्वेद के समान सूर्य को महान आदित्य बताया गया है। वे अन्धकाररहित उषा को प्रेरित करते हैं और प्रकाशयुक्त चन्द्रमा को भी अपने प्रकाश से तेजहीन कर देते हैं। सूर्य के सविता, विष्णु, पूषा आदि रूप यहाँ भी स्तुत्य रहे हैं।

अथर्ववेद की संहिता धर्म के उच्च स्तर पर देवताओं के विकसित रूपों को दर्शाती है, जिनके कार्य विशेष रूप से राक्षसों का संहार, रोगों का नाश, शत्रुओं का विध्वंस आदि है, जिनकी उपयोगिता सांसारिक सुख और शान्ति के लिए है। मैकडॉनल के शब्दों में—"अथर्ववेद में देवशास्त्र का कोई ही ऐसा पहलू मिलेगा, जिसका संकेत ऋग्वेद में न आ चुका हो। यहाँ स्तुत सूर्य सविता, पूषा, विष्णु, मित्र, भग, विवस्वान्, अर्यमन् आदि सौर देवता ऋग्वेद में प्राप्त हैं। वृषाकपिका ऋग्वेदीय सूक्त ऋ. २०/१२६ यहाँ यथावत् प्राप्त होता है। 'एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति' उक्ति सूर्यदेव के बहुरूपत्व की सिद्धि करती है। इस वेद में सूर्य देवता की सम्पूर्ण बारह सूक्तों तथा कई मन्त्रों में स्तुतियाँ की गई हैं। उनके उदित होते ही नक्षत्र भाग जाते हैं, क्योंकि वे तारों के प्रकाश को क्षीण करने में समर्थ हैं। सूर्य और चन्द्र शिशुवत् आकाश में क्रीडा करते हैं और भ्रमण करते हुए समुद्र तक पहुँचते हैं। यहाँ रोग, शत्रु, प्रतिपक्षी के निराकरण में सूर्यदेवता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सूर्य अरोग्य देते हैं और शरीर के सब दोष बाहर निकाल देते हैं। अथ. १/३/५ देव-सामान्य की भाँति सविता से यश, पापमुक्ति, दुष्कर्मकर्त्ताओं के निवारण, उत्तम मन, शत्रुसेना के नाश, सुमति और सौभग के लिए प्रार्थनाएँ हैं। अथर्ववेद संहिता के भाष्य में सायण ने सविता को अन्तर्यामी होने से सर्वप्रेरक सूर्य का वाचक माना है[१८]।

पूषा की स्तुति में अथर्ववेद संहिता के चार सम्पूर्ण सूक्त तथा कई मन्त्र प्राप्त होते हैं, जिनसे उनके ऋग्वेदीय पोषक और मार्गदर्शक रूपों की ही मुख्यतः पुष्टि होती है। उसके एक सूक्त का विनियोग गर्भिणी स्त्री के सुखप्रसव कर्म में बताया गया है। वे प्रजा, दीर्घायु, धनधान्य, पापमुक्ति और रक्षा के लिए प्रार्थनीय हैं। वे स्वस्तिदाता, तेजस्वी, सर्ववीर हैं। ऋग्वेद की तरह अथर्ववेदसंहिता में भी प्रायः विष्णु के त्रिक्रमण द्वारा तीनों लोकों के धारण और निर्माण का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से विष्णु को विश्व-बीज का नियामक माना गया है। सायण के अनुसार अन्धकारहरण, पदार्थ-प्रकाशन, सकल कर्म-निवर्तन, वृष्टि-प्रदान, आरोग्यकरण तथा मोक्ष-प्रदान सूर्यदेव के वीर्य कर्म हैं[१९]। 'मित्र' का आवाहन अधिकांश में रक्षणार्थ हैं। वे अपनी प्रासरणशील किरणों द्वारा विस्तृत भूमि को व्याप्त करते हैं और ऋतुओं को व्यवस्थित करते हैं। अथर्ववेद संहिता के भाष्य में सायण ने 'भग' को सौभाग्यकर देव बताया है : 'भगं भक्षि', 'भगो मा भगेन अवतु', 'भगस्य जुष्टा' 'मन्त्रांशों में 'भग' शब्द ऐश्वर्य, भाग्य या धन का वाचक है। उषाओं के पश्चात् भग का आगमन उनके सौर स्वरूप का बोध कराता है।

'विवस्वान्' उपासनीय है, क्योंकि मृत्यु से बचाते हैं। अथर्ववेद संहिता में दो सूक्त अर्यमन् के निमित्त है, जहाँ इसका आवाहन विशेषरूप में विवाह के सम्बन्ध में, विवाह-देवता के रूप में है। इस वेद के सूक्तों में रोहित को द्युलोक का देवता बताया है। ब्लूमफील्ड ने रोहित को उदीयमान लाल सूर्य का वाचक, कर्मबलेकर, आचार्य सायण के मत से क्रमशः प्रकाशमान रक्तिम सूर्य और उदीयमान सूर्य ही समझा है। वे राष्ट्र को परिपुष्ट करते हैं। ऋग्वेद में सूर्यमण्डल की जो विशेषताएँ हैं, वे ही सामान्यतया रोहित से संयुक्त की गई हैं। वे भूत और भविष्य के जगत् के स्वामी भी हैं। मैकर्डानल के मत से रोहित सूर्य के एक विशेषण के रूप में से आज सर्जन को एक पृथक देवता के रूप में हैं। सायण ने सभी को अपने-अपने कर्मों और उनके फलों से बाँधने वाले 'संयोजक' सूर्य का नाम 'ब्रह्म' बताया है।

यजुर्वेद की तरह अथर्ववेद में भी सात सूक्तों में आदित्य नाम से सूर्यदेवता की स्तुति की गई है। उनसे अन्न, बल, पशु, पुत्र और शतायु इत्यादि प्रार्थित है। आदित्य गर्भाधान के लिए गर्भाशय को विस्तृत करते हैं और उसमें पुत्र की स्थापना करते हैं। इस प्रकार जीवन को दुःख रहित और सुखी बनाने के लिए सूर्य की उपादेयता को अथर्ववेदीय ऋषियों ने सम्यक्तया समझा था और विविध नामों से उनकी उपासना की थी। सूर्य परब्रह्मस्वरूप और व्यापकसामर्थ्य से संयुक्त हैं। उनसे इस लोक में भौतिक सुखोपलब्धि और देहत्यागानन्तर अमरत्व की याचना का यही औचित्य है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का महत्त्व विशेष है, इसीलिए पृथक-पृथक सभी देवताओं की तरह सूर्य के यज्ञरूप में ग्रहण करना इसी धारणा का संकेतक है। सूर्य यज्ञ के शीर्षस्थानीय हैं। सूर्य का सविता, पूषा, मित्र और आदित्य नाम ब्राह्मणों में अतिप्रचलित है। द्वादशात्मा सूर्य की अवधारणा का प्रारम्भ ब्राह्मणों से ही माना जा सकता है। ब्राह्मणों में सभी के प्राणों को धारण करने के कारण आदित्य को प्राण कहा गया है।

प्राणविद्या की महिमा का गान करने वाले आरण्यक ग्रन्थों में लोकजीवन के लिए प्राणवत् आवश्यक तथा उपकारी सूर्य को प्राण से समीकृत किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में सूर्य के सात नाम बताने के साथ सहस्र सूर्यों की धारणा भी देखने को मिलती है[२०]। सूर्य के नाना रूपों का आधार है—ऋतुओं की अनेकता। सूर्य सर्वदेवहितकारी होने से 'देवहित' हैं,

उनसे धन, पशु, प्रजा की कामनाएँ की गयी हैं। आरण्यकों में आदित्यमण्डल में परब्रह्मोपासना का उपदेश दिया गया है कि आदित्यमण्डल में जो पुरुष है। वही हिरण्यमय पुरुष है। यहाँ सूर्य को यज्ञ, प्राण और ब्रह्म से समीकृत किया गया है।

उपनिषद्—साहित्य का एक बड़ा भाग देवताओं के नामों पर ही है। उपनिषदों की मान्यता है कि, देवोपासना द्वारा साधक अपने अभीष्ट काम्य-प्रयोजनों की सिद्धि कर सकते हैं। सूर्योपनिषद् तथा चाक्षुषोपनिषद् पूर्णतया सूर्यदेवता की स्तुति और स्तुति केक परिणामों का ही वर्णन करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कौषीतकि ऋषि ने सूर्योपासना द्वारा पुत्र-प्राप्ति की बात कही है। सूर्योपनिषद् में सूर्याष्टाक्षर मन्त्र के जपफल के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान, रोगनिवृत्ति, दरिद्रतानाश, पापनाश आदि का उल्लेख है। सूर्य नेत्रों का तेज है इसीलिए उनसे चक्षु प्रदान करने की याचना है। "असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय"। प्रार्थना चाक्षुषोपनिषद् और अक्ष्युपनिषद् में प्राप्त है।

संहिताओं की तरह उपनिषदों में भी सूर्य के पूषा, अर्यमन्, सविता, विष्णु, मित्र, आदित्य नामों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। सूर्य को परमात्मा का चक्षु कहा है[२१]। आर विशेषरूपेण ब्रह्म या ब्रह्म का एक रूप माना गया है। वे ब्रह्म का मूर्तरूप हैं। मैत्राण्युपनिषद् में परमात्मा के प्राण को अन्तरात्मा और सूर्य को बहिरात्मा कहा गया है। सावित्र्युपनिषद् में सविता और सावित्री के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सविता को अग्नि, वायु, यज्ञ, आदित्य, पुरुष आदि बताया गया है। अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् में 'श्रीसूर्यनारायण' की स्तुति में उन्हें त्रैलोक्यरूप स्थावर और जङ्गम जगत की आत्मा, सर्वदेवों का आधार आदि कहा गया है। ब्रह्मरूप आदित्य का, प्राणियों के उत्पादक, पालक और नाशक के रूप में स्तवन किया गया है। अत: उपनिषदों में सूर्य को परमात्मा की एक शक्ति होने से परमात्मा माना गया है। वैदिक सूर्यदेव की 'सूर्यनारायण' के रूप में स्तुति का प्रारम्भ उपनिषदों से ही माना जा सकता है।

इस प्रकार वैदिक स्तुतियों में सूर्यदेव का स्तवन कभी सीधे किया गया है और कभी माध्यम से। ऋक्संहिता और दूसरे वैदिक ग्रन्थों में सूर्य के अतिरिक्त सविता आदि जिन नामों से सूर्य की स्तुतियाँ हैं, वे सूर्य के रूप, गुण अथवा कर्मों पर आधारित उनके विविध रूपों के प्रतिनिधि देवता ही हैं। प्रकृति की महत्तम शक्ति के प्रतिनिधि सूर्यदेवता अपने स्थूल रूप में परम तेजस्वी हैं, अपने सूक्ष्म रूप में प्रकृति एवं प्राण के सञ्चालक हैं और वैदिक ऋषियों के गूढ़ आध्यात्मिक चिन्तन में अद्वितीय चेतनशक्ति का प्रतिरूप रहे हैं। अनन्तर वेदोत्तर स्तुतियों में सूर्योपासकों के परम इष्ट देव से वे परब्रह्म के रूप में प्रधानतया वन्दनीय हैं। इसलिए इन स्तुतियों में परब्रह्म, परमात्मा, सूर्यनारायण और सूर्य भगवान् नाम से उनका स्तवन अत्यन्त सहज रूप में किया गया है।

सन्दर्भ-सूची

१. ॐ भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योन: प्रचोदयात्॥

२. तिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ता:। अग्नि: पृथिवीस्थान: वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान:।
(सूर्यो द्युस्थान:। नि. ७/५/२)

३. सूर्यस्य सप्त चा बृ.दे. २/२०, २/६१-७०।

४. सुवीर्य्यो मर्या यथा गोपायत इति, तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्। (तै.ब्रा. २/२/१०/४)

५. (क) उषा: वष्टे: कान्तिकर्मणे उच्छतेरितरा माध्यमिका। (नि. १२/५/३)
(ख) सूर्या सूर्यस्य पत्नी। एषैवाभिसृष्ट कालतमा। (नि. १२/७/२)

(ग) वृशाकपायी वृषाकपेः पत्न्येषैवाभिसृष्ट कालतमा। (नि. १२/८/२)

६. वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव तु पत्न्यः।
पुरोदयातामुषसं सूर्यां मध्यंदिने स्थिते।।
वृषाकपायी सूर्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचि।
(बृ.दे. २/८-१०)

७. ऋ. १/१६४/७

८. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षकर आहुरर्पितम्। ऋ. १/१६४/१२

९. वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य। (ऋ. १०/३७/८)

१०. Rele, The Vedic Gods, p. 83

११. चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान तथा भारतीय संस्कृति, पृ. १७१

१२. चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीर्रवीविपत्। (ऋ./१५५/६)

१३. Wallis, Cosmology of Rigveda, p. 11

१४. संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम। (वा.सं. १८/३६, तै.सं. ३/४/७)

१५. वा.सं. ९/३२, ५/३९, ९१/३,६; तै.सं. ४/१/१; वा.सं. २२/१०

१६. आदित्याः द्वादशसंख्याकास्तेष्वेको मुख्यः सूर्यः।
(तै.सं.सा.भा. ४/४/५)

१७. वण्महाँ असि सूर्य बकादित्य महाँ असि। साम.सं. १/३/४; ऋ. ८/१०१/११

१८. अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकं सूर्यम्। (अथ.सा.भा. ६/१/१)

१९. तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। (अथ. १७/१६)

२०. न त्वा व्रजिन्त्सहस्रं सूर्याः। (तै.आ. १/७)

२१. आदित्यश्चक्षुः। (मै.उ. ६/६, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ।
(मु.उ. २/१/४)

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) : सायण भाष्य सहित, शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, बम्बई, सायण भाष्य सहित भाग १-२, विश्वबन्धु, होशियारपुर, विश्वेश्वरानन्द भारतीय ग्रन्थमाला सीरीज।

२. ऋग्वेदसंहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. वलसाड, चतुर्थ संस्करण।

३. १०८ उपनिषदें (तीन खण्ड) : शर्मा, श्रीराम संस्कृति संस्थान, बरेली १९६१

४. तैत्तिरीय आरण्यकम् : भट्टभास्करभाष्योपेतम्, सम्पा. श्री शास्त्री ए. महादेव तथा रंगाचार्य के. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८५

५. तैत्तिरीय ब्राह्मण : सम्पा. मि. राजेन्द्रलाल, कलकत्ता, १८५५-७०

६. तैत्तिरीय संहिता (सा.भा.) भाग-१ : भट्टभास्कर, सायणाचार्य विरचित भाष्याभांसमेता, वैज्ञानिक संशोधनमण्डल, पूना, १९७०, प्रथम आवृत्ति।

७. निरुक्त : दुर्गाचार्य टीका सहित, सम्पा. राजवाडे, बी.के. पूना, १९२१-१९२६, पं. शर्मा शिवदत्तकृत-टिप्पणादिभिश्च समलङ्लकृतम् 'वेंकटेश्वर' स्टीमप्रोस, मुम्बई, सं. १९८२।

८. बृहद्देवता : शौनकाचार्य, सम्पा. अनु. रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम आवृत्ति, १९६३।

९. मुण्डकोपनिषद् : आप्टे विनायक गणेश, आनन्दाश्रम, पूना, १९३५।

१०. वाजसनेयि संहिता : महिधर भाष्य, सहित, सम्पा. बेबर ए. लन्डन, १८५२।

११. वैदिक विज्ञान तथा भारतीय संस्कृति : चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६०।

१२. सामवेद संहिता : सम्पा. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. वलसाड, चतुर्थ संस्करण।

१३. Cosmology of Rgveda : Wallis, H.H. London, 1887

१४. The Vedic Gods : Rele, V.G. (as figures of Biology Bombay. 1931).

वेदवर्णितस्वास्थ्यसिद्धान्तमीमांसा

डॉ. अर्चना ए तिवारी
प्राचार्या राजकीय डिग्री कालेज
सोजित्रा, आणन्द (गुजरात)

वैदिक संहिताओं में रोग निवारण सम्बन्धी जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर हमें अत्यन्त प्राचीनकाल से भैषज्य विकास के ज्ञान का संकेत मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर औषधियों के विषय में कहा गया है कि "देवज्ञान से तीन युगों पूर्व ही वनस्पतियों की उत्पत्ति का ज्ञान हो चुका था"[१]। वेदों में अवलोकन से विदित होता है कि स्वास्थ्य और औषधि विषयक अनेक सन्दर्भ उनमें बिखरे मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वेद जितना प्राचीन आयुर्वेद भी है। अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर चिकित्सा सम्बन्धी वर्णन है। जिसके आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ है।

"ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेद इत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा"। विधान द्वारा भगवान् व्यास तथा स्कन्द के मत में आयुर्वेद को उपवेद बताया है२। याज्ञवल्क्य संहिता तथा महाभारत के सभापर्व३ में ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यह उल्लेख प्राप्त होता है।

ऋग्वेदकालीन व्यक्ति बारम्बार शतायु होने की कामना करते रहते थे। शौनसंहिता ४ में शौनक ने कहा है कि वैदिक आर्यों ने आयुर्वेदिक ज्ञान को मनुष्यों से नहीं परन्तु पशु-पक्षियों से भी सीखा था। वराह, नेवल, साँप, गन्धर्व, सुपर्ण, मृग, गायें, भेड़ें बकरियाँ आदि वनस्पतियों को चिरकाल से जानते रहे हैं।

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम मनुष्यों ने भैषजज्ञान को देवों, पशुओं, पक्षियों से प्राप्त किया तदनन्तर उन्होंने अपने क्षेत्र में अन्वेषण करके विस्तृत किया।

ऋग्वेद में बहुत से वैद्यों के साथ प्रधानतया अश्विनीकुमारों द्वारा नाना चमत्कारपूर्ण भैषज्य विषयों का वर्णन मिलता है, जिसका कतिपय संकेत यहाँ दिये गये हैं। जरावस्था वाले च्यवन तथा वन्दन ऋषि को अश्विनीकुमारों द्वारा रसायन प्रयोगों से पुनः यौवन की प्राप्ति हो गयी थी[५]। दासों द्वारा अग्नि और जल में फेंक दिये जाने पर भी जीवित बचे हुये दीर्घतमस् ऋषि का पुनः दास द्वारा सिर तथा छाती के काट दिए जाने पर अश्विनीकुमारों ने उन्हें स्वस्थ बनाकर दसयुगपर्यन्त वृद्धावस्था से रहित होकर जीवित रखा था[६]। युद्धक्षेत्र में खेलराजा की पत्नी विपश्यलाकी शत्रुओं द्वारा टाँग काट दी जाने पर अश्विनीकुमार द्वारा लोहे की जङ्घा जोड़ी गयी थी (ऋ. १/१६/१५)। इस तरह कटे हुए अंगों वाले अत्रि के शरीर के अवयवों को जोड़कर अश्विनीकुमारों ने ठीक किया था (१/११७/१९)

अश्विनीकुमारों ने मधुविद्या प्राप्त करने की इच्छा से दधीचि ऋषि के सिर को अलग करके उसे सुरक्षित कर उसकी जगह घोड़े का सिर जोड़कर उसके द्वारा मधुविद्या (प्राणविद्या) ग्रहण करके फिर घोड़े का सिर काटकर उसके स्थान पर पहला (मनुष्य का) सिर जोड़ दिया था (ऋ. १/११६/१२)। अन्ध ऋजाश्व तथा कण्व को दृष्टिदान (१/११७/८), बहरे नार्षद

को श्रोत्रादान (१/११७/८), पंगुरावृज तथा जिसके घुटने खराब हुए हैं, ऐसे सोपर्षि को गतिदान (१/११२/८), नपुसंक पतिवाली विध्रमती को पुत्रोत्पादन कराया गया था (१/११६/२३)।

इसके अतिरिक्त वृद्धावस्था को दूर करने के लिए सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने के लिए भी अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की गयी है (१-११६-२५)। वेदों में यद्यपि रुद्र, अग्नि, वरुण, मरुत् आदि से भी स्वास्थ्य की कामना की गयी है। परन्तु ''चिकित्सा'' कार्य के सन्दर्भ में मुख्यरूप से अश्विनीकुमार को ही ''देवानाभिषजौ'' के रूप में कहा गया है।

हमें आश्चर्य होता है कि इतने प्राचीन समय में भी इतने कठिन शल्य कर्म होते थे। लौह शस्त्रों के माध्यम से कटे अङ्गों को जोड़ना, शिर को हटाकर पुनः उसे यथास्थान लगाना आदि विलक्षण कर्म ऋग्वेद में वर्णित है। चोट, अस्थिभंग तथा अंग-भंग आदि के उपचारार्थ औषधियों का भी प्रयोग होता था, जिसके संक्षिप्त वर्णन मिलते हैं।

ऋग्वेद में अश्विनी के बाद भैषज्य से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा देवता रूद्र हैं। उसके पास सहस्र औषधियाँ थी। ''जलाष एवं जलाष भेषज'' ये दोनों विशेषण रुद्र के लिये है (ऋ. २/२३/७)। रुद्र से कल्याणकारी औषधियों की भी कामना की गयी है।

''स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे''। (ऋ.३३/१२)

ऋग्वेद में चिकित्सकों में इन्द्र का तृतीय स्थान है। इन्द्र ने अपाला के चर्मरोग व उसके उसके पिता के गंजे रोग का निवारण किया था। अग्निदेव से भी प्रार्थना की गयी है—'हे अग्ने! तू हमारे पुत्रों और पौत्रों के लिए सुख तथा आरोग्यता प्रदान करो''। (ऋ. ४/१२/५)।

ऋग्वेदादि में उल्लिखित रोग और औषधियाँ

ऋग्वेद के मन्त्रों में व्याधियों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। राजयक्ष्मा, ग्राहि, पृश्नयामय, हृदयरोग, क्रिमिरोग आदि के साथ ही शरीर के अंग-प्रत्यंग एवं उनमें होने वाली व्याधियों का भी वर्णन है। दशम मण्डल के १६३वें सूक्त में यक्ष्मारोग से पीड़ित रोगी के अंग-प्रत्यंग का वर्णन है[७]। वरणवृक्ष का उपयोग करने से यक्ष्मा रोग दूर होता है, ऐसा निर्देश अथर्ववेद में है। वेद में ''वरण'' नाम है, संस्कृत भाषा में वरुण कहते हैं, गुजराती में ''बिलि'' वृक्ष कहते हैं।

सम्पूर्ण शरीर को जकड़ने वाले ''ग्राहि'' नामक रोग का वर्णन तथा विद्युत् एवं अग्नि गुणयुक्त औषधियों से चिकित्सा करने का संकेत है[८]। ऋग्वेद में क्रिमि वर्णन भी अनेक मन्त्रों में आता है। जन्तु भी नाना प्रकार के क्रिमिरोग फैलाते हैं। ये गर्भाशय को हानि पहुँचाते हैं। इनकी चिकित्सा प्रमुख रूप से सूर्य की किरणों द्वारा बतायी गयी है। इसलिए सूर्य का नाम ''अदृष्टहा'' है जो दृष्ट-अदृष्ट सभी प्रकार के क्रिमियों के नाश का ज्ञान कराता है। अग्नि-इन्द्र दोनों क्रिमि नाशक हैं[९]। वचा नामक औषधि से क्रिमि दूर हो सकते हैं ऐसा अथर्ववेद में निर्देश है[१०]।

वारणा और वचा दोनों वनस्पतियों के उपयोग से विष दूर होता है। पेट में विष जाने से मूर्च्छा आये तो तिल और भात दही के साथ खाने का उपाय सूचित है[११]। भोजन निर्विष हो, इस विषय में वेदऋषि उचित समय पर सूचना देते हैं कि मनुष्य जो भोजन खाते हैं—पीते हैं वे निर्विष तो है न? इनका विचार करके ग्रहण करें।

आज का मनुष्य खाने-पीने में मद्य, गांजा, भांग, अफीम, तम्बाकू, चाय, कोफी आदि विषमय पदार्थ ग्रहण करते हैं और अल्पायु होते हैं। अतः ऋषि ने विष से बचने की सूचना दी है।

चावल और जब कफदोष को दूर करने वाला और मधुर है, साथ ही में यक्ष्मा रोग को भी दूर करते

हैं (अथर्व. ८/१६,१७,१८)। अथर्ववेद में जीवन्ती नाम की वनस्पति का वर्णन है, वह दीर्घ जीवन और अनेक रोग दूर करती है, उसका सेवन करने का निर्देश है (अथर्व. ८/२/६)।

जीवलां नघारिषं जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवे स्म अष्टितातये।।

अग्नि को रक्षो-हा यानि रोगजन्तु नामक राक्षस का संहारक कहा है। मनुष्य स्वयं रोग को दूर करने वाला है। इनके अन्दर पवित्रता, वृद्धि और गति करने की शक्ति है।

"अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पुतद्रुर्नाम भेषनम्"।।

(अथर्व. ८/२/२८)

उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि एक पुतुद्रु नामक औषध है। 'पु' का अर्थ पवित्र करना, मल दूर करना, शुद्ध करना है, 'तु' का अर्थ संवर्धन करना और 'द्रु' यानि (गतो) गति, प्रगति आदि है। अत: पवित्र, वृद्धि और प्रगति जो करे, उसको पुतुद्रु औषधि कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पु-तु-द्रु इस एक शब्द से वेद की चिकित्सा शैली अच्छी तरह दिखाई गयी है।

सुन्दर और दीर्घजीवन के लिये सूर्यप्रकाश अति हितकारी है। सूर्यकिरण के सेवन से रक्त संचार अच्छी तरह होता है।

"सूर्यः ते तन्वे शं तपाति।
इह अमृतस्य लोके सूर्यस्यभागे अस्तु"।

(अथर्ववेद-८/५/१)

ऋग्वेद में प्राय: प्राकृतिक वस्तुओं से आरोग्य प्राप्ति का निर्देश है, यथा—सूर्य, जल, वायु, अग्नि आदि से चिकित्सा की जाती थी। औषधियों का गुण-प्रयोग आदि की जानकारी के लिये ऋग्वेद का औषधिसूक्त महत्त्वपूर्ण है। जल में आरोग्यप्रद गुण है। मानव शरीर की रक्षा के लिये और स्वस्थ बनकर दीर्घायु होने की कामना हेतु प्रार्थना की गयी है[१२]। शतपथ ब्राह्मण में[१३] कहा गया है कि यह पवित्र, दिव्य और अमृतरूपी जल मनुष्य को निरोगी और बलिष्ठ बनाता है। अथर्ववेद (३/१३/५) में कहा गया है कि जल कल्याणकारक, सुखदायक और तेज-कान्ति देने वाला पौष्टिक पदार्थ है।

"आपः विश्वस्य भेजषजीः"।

(अथर्व. ६/५८/२)

वेदऋषि ने सूर्य, वायु और जल आदि देवों के साथ मित्राचारी रहने को कहा है, क्योंकि सूर्य का सम्बन्ध दर्शनशक्ति और पाचन शक्ति के साथ है, वायु का सम्बन्ध फेफड़े तथा शरीर के विभन्न अवयवों के साथ जुड़ा हुआ है और जल तो मनुष्य का जीवन है।

अवि नाम की औषधि (कुलित्थ फूल) नेत्ररोग दूर करती है। नड़ नाम की वनस्पति एक प्रकार का घास है, वैदिक ग्रन्थ में इनके गुण कहा है—"यह वनस्पति रुचिकर, मधुर, रक्तपितघ्न, दीपन, बलद, वृष्य, वीर्याधिकप्रद है[१४]। सीसा यानि सीसु जो मधुप्रमेय का नाश करने वाली औषधि है, यह वेदनाहार, कामवर्धन, रक्तास्रावहर है। यह कुष्ट, गुल्म, पाण्डु, सूजन, भगन्दर आदि रोगों को दूर करती है।

शीर्ष (अगरुवृक्ष) वनस्पति को जलाने से वायु शुद्ध होता है। यह वैद्यशास्त्रोक्त अर्थ है। सुचारु प्रयोग वैद्य ही कर सकते हैं—इसलिए यह शोधन का विषय है।

रामा, कृष्णा, असिकिन आदि औषधियाँ कुष्ट रोग पर बहुत उपयोगी हैं। कौन सी वनस्पति को रामादि नाम से पहचानें यह तो अच्छा वैद्य ही बता सकता है[१६]।

ज्वर निवृत्ति का उपाय संयम और ब्रह्मचर्य है। अग्नि में सोमादि औषधियों से वहवन करने से ज्वर दूर होता है। शौचशुद्धि से ज्वर दूर होता है। मन्त्र में तक्मा[१७] शब्द है, वर्तमान समय में उसे शीतज्वर अथवा मलेरिया कहते हैं।

वात रोग को दूर करने के लिये "दशवृक्ष" नाम की औषधि है[१८]। वैद्यक के ग्रन्थों में दशमूल से प्रसिद्ध है। दशवृक्षों का तेल, घी, क्वाथ, आसव, अरिष्ट आदि बनाने से वातरोग दूर होता है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में नाना रोग, औषधि, रोगों के कारण आदि अमुक औषधि के सेवन से अमुक रोगों का प्रतिकार किया जा सकता है। ऋग्वेदकाल में सैकड़ों औषधियों के संग्रहकर्त्ता भिषक (वैद्य) होते थे (ऋ. १०/९७/६) वैद्य भी सैकड़ों की संख्या में थे।

"शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरासुमूतिस्तेरस्तु"। (ऋ. १/२४/९)

जिससे ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के ज्ञाता सैकड़ों महर्षियों द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण रूप से व्यवहृत तथा शृङ्खलाबद्ध में विद्यमान सम्पूर्ण औषधियों से युक्त आयुर्वेद विज्ञान ऋग्वेद में समाहित था। क्योंकि ज्ञातव्य विषयों की सूचना तथा उनके उपयोग से होने वाले लाभों के निर्देश ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर हुए हैं।

वैयक्तिक स्वास्थ्य और सुन्दरता

मनुष्य को अपने शरीर को स्वस्थ रखते हुए दीर्घायु की कामना करनी चाहिए। ऐसी भावना वैदिककाल से लेकर उपनिषदकाल पर्यन्त समस्त ऋषियों की रही है। मनोबल से ही स्वास्थ्य सुन्दर होता है। इसलिये व्यक्ति को विधि-निषेधों का पालन करते हुए अपने मनोबल सुन्दर बनाना चाहिए। मनुष्य के लिये शरीर धर्म का साधन है। अथर्ववेद की दीर्घजीवन विषय के सूक्त में कहा है "इमं अमृतं सुखं रथं आरोहम्"। शरीर अमृत और सुखकारक होना चाहिए। सुखकारक शरीर से ही मनुष्य को जीवन की सफलता मिलती है।

शारीरिक और आत्मिक सुख प्राप्त करने वाले आहार-विहार और क्रियाओं में सादगी रखनी चाहिए।

**"जुषस्व सप्रतस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्।
हव्या जुहाव आसानि"**।।

योग्य आहार और विहार से शरीर को स्थिर रखना चाहिए। निरामय शरीर ही सर्व सुख का मूल है। यह विचार यजुर्वेद में भी है[१९]।

भोजन ग्रहण करके शक्तिवान बनना ये यज्ञीय प्रक्रिया है। ऋषि ने उपदेश दिया है कि जिस तरह गाय घास खाकर स्वच्छ पानी पीकर दूध-घी उत्तम पदार्थ देती है, उसी तरह मनुष्य भी सात्त्विक आहार ग्रहण करके सदा संसार पर उपकारक रहे। वेदों में स्वाथ्य विषयक सूक्तों में से उपदेश मिलते हैं कि जीने के लिये खाओ, खाने के लिये मत जीयो।

दीर्घायुष्य सुख पाने के लिये शरीर का अंगोपाङ्ग में सम्पूर्ण शक्ति और नीरामयता जरूरी है। अथर्ववेद (१९/६०/२) में प्रार्थना है कि "मुख में से वायुशक्ति, नाम में से प्राणशक्ति, आँखों में से दर्शनशक्ति, कान में से श्रवणशक्ति कभी नाश न हो, सफेद बाल न हो, दंत अखण्ड बनी रहे और हाथ में बल रहे"। इस तरह आँख, कान-नाक, दाँत, बाल आदि सौ वर्ष पर्यन्त पूर्ण क्षमता से कार्यरत रहे और जीवन शक्ति में कोई भी समस्या न आये ऐसी कामना की है।

मनुष्य को सामान्यतया दैनिक क्रियाओं को प्रारम्भ करने के लिए ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। उषा काल में शरीर में उर्जा उत्पन्न होती है, मनुष्य बल और धन से युक्त होते हैं। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान से होता है यह समय ज्ञान का होता है इसलिए उषाकाल में

जागने वाले आत्म-साक्षात्कारी ज्ञानियों को देव कहा गया है[१९]।

अथर्ववेद में दाँतों को उत्तम और स्वस्थ रखने के लिए माँस न खाने और सात्त्विक भोजन करने का उपदेश है[२१]। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि जब तू दाँत दिखाता है तब शास्त्रों के समान चमकते हैं[२२]।

शरीर को सुन्दर एवं स्वस्थ रखने के लिये सुगन्धित तैलों का नियमित रूप से उपयोग करना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण के (१/१/३) अनुसार 'नवनी' का अनुलेपन किया जाता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यलोग स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अभ्यंग का प्रयोग करते थे[२३]। तेल मालिश से रसरक्तादि की वृद्धि तथा शरीर पर झुर्रियाँ नहीं पड़ती और गर्मी, वर्षा और शरद ऋतु का शरीर पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है[२४]। ऋग्वेद के वर्णन से पता चलता है कि आर्य लोग व्यायाम क्रिया के अभ्यासी थे। ऋग्वेद में त्वष्टादेव से प्रार्थना की गई है कि हमरा शरीर यथेष्ट विशाल कर दे और चट्टान के समान दृढ़ एवं अजेय बना दे। व्यायाम रक्त दोषों तथा अनेक प्रकार के विकारों को दूर करता है।

अथर्ववेद में छुरे से श्मश्रु बनाने के लिए स्पष्ट रूप से वर्णन मिलता है[२५]। क्षौर कर्म से केश, श्मश्रु, नाख़ून आदि का काटने लाभदायक आयुवर्धक स्वच्छता एवं रूप सुशोभित होने लगता है। नाख़ून काटने के अस्त्र को नखकृन्तकः (नईलकटर) कहते हैं।

स्वास्थ्य के संरक्षण में स्नान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नदी के जल में स्नान करने से व्रण आदि रोग दूर हो जाते हैं[२६]। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि जल में प्रविष्ट होने से उसमें स्थित अग्नि मनुष्य को तेजवान् बनाता है। शुक्रवृद्धि और स्वास्थ्य लाभ होता है। थकावट, स्वेद तथा मल दूर होता है। शरीर में बल एवं ओज की वृद्धि होती है[२७]।

वैदिक साहित्य में केशों के स्वास्थ्य के लिए अनेक स्थल पर वर्णन आया है। बाल को सुगन्धितयुक्त बनाने के लिये अगर-तगर आदि द्वारा धूपित किया जाता था। बृहद्संहिता के अनुसार कपूर, केसर अथवा कस्तूरी से युगन्ध प्रदान करने की विधि वर्णित है[२८]।

वैदिककाल के आर्यलोग स्नान करने के बाद सुगन्धित द्रव्यों से युक्त चन्दन, कस्तूरी, गोरोचन आदि का शरीर पर लेप करते थे। सुन्दर पुष्पमालाओं से अपने शरीर को सजाते थे। प्रलेप से शरीर शुद्ध होता है श्री की वृद्धि होती है।

अभ्युङ्गनं सुरभि सा समृद्धि हिरण्यंवर्चस्तदुपूत्रिमेव।
सर्वापवित्रावितताध्यस्मत्तन्मा तारीन्नि ऋतिर्मों अराति[२९]।।

ऐतरेय ब्राह्मण (१/१/३) में नवनीत लगाने का वर्णन मिलता है।

भ्रमण यानि पैदल चलने से भी स्वास्थ्य लाभ होता है। अथर्ववेद के अनुसार चलने का वेग अच्छा होना चाहिए, मन्दगति से चलना उचित नहीं है[३०]। ऋग्वेद में कहा है कि यज्ञ के स्थान पर वेग से गमन करो, शत्रु पर हमला वेग से करो और माग्र में वेग से जाओ[३१]। सुश्रुत ने भी मार्ग में चलने का वर्णन करते हुए कहा है कि मार्ग पर चलना निर्बलता, कफ, स्थूलता और सुकुमारता को नष्ट करता है तथा इससे विपरीत अधिक चलने से बुढ़ापा और दौर्बल्य आता है।

''अध्यावर्णकफ स्थौल्य सौकुमार्य विनाशनः।
अव्यध्यवाविपरीतोस्माज्जरादोषयकृच्च सः''।

(सु.सं. २४/७९)

स्वास्थ्य के संरक्षण में उचित आहार का प्रथम स्थान है। वेदों में पोषक अन्न के लिये प्रार्थना की गई है। "दक्षिणावन्त आयुः प्रतिरन्त" (ऋ. २/१२५/६)। ऋग्वेद के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय लोग बैठकर भोजन करते थे। ऋग्वेद में दिन में तीन बार बलवर्धक अन्न देने को कहा है।

"त्रिवीजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा। अस्मभ्यमुषश्च पिन्वतम्"। (ऋ. १/३४/३)

"त्रिपक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्"।

(ऋ. १/३४/४)

आहार शुद्धि पर भी ऋग्वेद में बल दिया गया है तथा (ऋ. ७/१/२०-२५) में कहा गया है कि मनुष्य के ग्रहण करने योग्य अन्न को परिशुद्ध ढंग से तैयार करना चाहिए और उनके ग्रहणीय भोज्य पदार्थ को गंदे अथवा मैले हाथों से नहीं बनाना चाहिए।

छान्दोग्योपनिषद् (७/२६/२) में वर्णन मिलता है कि आहार शुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से सुन्दर एवं अटल स्मृति प्राप्त होती है। अटल स्मृति से सारे बन्धन कट जाते हैं। ऋग्वेद के मतानुसार दूषित तथा हानिकारक भोजन न ग्रहण करें[३२]। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि जिस अन्न का सेवन मनुष्य न कर सब उसका परित्याग करे और जीवनपर्यन्त उसका उपयोग न करे। सात्त्विक भोजन से वह पूर्ण आयुवाला होता है[३३]।

इस प्रकार स्वास्थ्य के संरक्षण में भोजन ही प्रधान है। नियमों का पालन करते हुए प्रसन्नचित्त होकर भोजन करना चाहिए। इससे शरीर, मन, वाणी और कर्म सभी शुद्ध एवं स्वस्थ रहते हैं। मृत्यु से बचने के लिए सात्त्विकवृत्ति का आचरण करना, ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति मृत्यु के संरक्षण में कवच का काम करती है।

"यत ये नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्त्यम्। पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मैवर्मकृष्मासि"।।

(अथर्व. ८/२/१०)

मनुष्य के लिये नृत्य और हास्य इतना जरूरी है, जितनी औषधि। हास्य से मन की प्रसन्नता और नृत्य से अवयवों में उत्साह वृद्धि होती है[३४]।

आज हमें कई योगाचार्य युक्त मन से हँसने को सिखाते हैं, जिससे शरीर को सुख मिलता है। चित्त प्रसन्न हो तो आत्मा भी प्रसन्न होता है—ये विचार वेद में निहित हैं।

प्राणायाम करने से शरीर का स्वास्थ्य अच्छा रहता है और हम दीर्घायु बनते हैं। यह बात अश्विनीकुमार कहते हैं। अध्यात्म की दृष्टि से अश्विनीकुमार हमारे शरीर में प्राण और अपान हैं।

"देवानां भिषजो अश्विनौ। शीचिभिः मृत्युं अस्मत् प्रत्योहताम्"। (अथर्व. ७/५३)

अर्थात् प्राण-अपान ही इस शरीर के सभी अंगों और इन्द्रियों की चिकित्सा करते हैं और इनको पूर्ण निर्दोष करके मनुष्य को मृत्यु से बचाते हैं।

"इह प्राणापानौ ते सयुजौ स्ताम्"।

यदि प्राण-अपान मनुष्य के अन्दर उत्तम व्यवस्था में रहेंगे तो पुष्ट और बलिष्ठ होकर हम सौ वर्ष दीर्घजीवन प्राप्त कर सकते हैं। अतः कहा है—

"वर्धमानः गतं शरदः जीव"।

(अथर्व. ७/२)

मनुष्य आत्मविश्वास, नियमपालन और मन की शक्ति से सब कुछ कर सकते हैं। अतः कहा गया है—

"मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"। "अच्छे विचार अच्छा आरोग्य" यह विचार वेदऋषि ने दिया।

अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि 'मूलतं शर्म यच्छतम्' सुखी बनो और सुख प्रदान करो। अतिवृद्धावस्था भी तन्दुरुस्त और बलवान बने रहना वेद का साध्य है। सभी अवयवों को ठीक अवस्था में रखने से मनुष्य को वृद्धत्व न आये, यह वेद का आदर्श है। स्वास्थ्य विषय केवल शुष्क विचार ही नहीं अपितु अन्य उपभोगों से भी सम्बद्ध है, जैसे उत्तम कपड़े पहनना, मुख की सुन्दरता बढ़ाना और स्वादिष्ट भोजन आदि।

वैदिक साहित्य में स्वास्थ्य के संरक्षण में सद्वृत्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य को विनय सम्पन्न, शीलयुक्त और द्वेषभाव से रहित होना चाहिए। मानवयोनि को प्राप्त कर स्वास्थ्य रक्षा के लिए कर्म करना अति आवश्यक है।

वेदों के स्वास्थ्य सम्बन्धी विचारों की वर्तमान समय में आवश्यकता

1. अश्विनीकुमारों का आयुर्वेदिक ज्ञान जानना चाहिए। कटे हुए शिर को यथा स्थान पर लगाना यह प्रयोग ऋग्वेद के अश्विनी सूक्तों में मिलता है।
2. क्षीण होती वनस्पति और औषधियों का संरक्षण करना तथा वनस्पतिविद् और औषधियों का ज्ञान आदिवासी आदि प्रजाजनों के साथ मुलाकात करके प्राप्त करना चाहिए। और औषधियों का पुनः स्थापन करना चाहिए।
3. हमारे प्राकृतिक तत्त्वों सूर्य, वायु और जल से अनेक असाध्य रोग दूर होते हैं। इनके प्रयोग में श्रद्धा रखनी चाहिए।
4. अवि, नड सीसा और शीर्ष इन तीनों औषधियों में अवि से नेत्ररोग, नड रक्तपित्त, बलवर्धक, वीर्याधिक्य कारक, मधुर, रुचिकर और भूख उत्पन्न करने वाली है। सीमा मधुप्रमेह, रक्तास्राव, गुल्म, पाण्डु, सूजन, भगन्दर (हार्निया) आदि रोग मिट सकते हैं। शीर्ष (अगरुवृक्ष) जलाने से वायु शुद्ध होती है। वर्तमान समय में वायु प्रदूषण को दूर करने के लिये अति आवश्यक है। इनकी सभी को अच्छी तरह पहचानना और अच्छा प्रयोग वैद्य ही कर सकते हैं।
5. सोमादि औषधियों से यज्ञ करने से मलेरिया दूर होता है।
6. ब्राह्म मुहूर्त में उठना, इष्टदेव स्मरण, दैनिक क्रियाएँ, योग, भ्रमण-व्यायाम, तीनों समय सात्त्विक भोजन, सद्कर्म, सद्चारित्रय, संयम, प्रसन्नचित्त रहकर आदि नियमों का पालन करने से व्यक्ति सौ साल तक स्वस्थ जीवन जी सकते हैं।
7. शरीर, कुटुम्ब, देश और सारे विश्व के आरोग्य के लिये प्रत्येक मनुष्य को कटिबद्ध होना चाहिए।
8. 7 अप्रैल को हम विश्व स्वास्थ्य दिवस मनाते हैं। उस दिन अनेक सेमिनार, कॉन्फ्रेंस होती है। कई चर्चाएँ, व्याख्यान होते हैं। चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, आयुर्वेद, हमारे चारों वेद आदि में जो आरोग्य सम्बन्धी विचार हैं इनका शोधन कैसे करें? जिससे कोई भी Side Effect बिना व्यक्ति का रोग दूर हो जाए।
8. इन प्रश्नों और समस्याओं का निराकरण और प्रयोग ऊपर अधिकारियों, डॉक्टरों, पर्यावरणविद् और प्रजाजनों को चिन्तन करना चाहिए।
9. 5 जून विश्व पर्यावरण के दिन विविध सम्मेलन होते हैं। इनमें विविध वृक्ष, वनस्पतियाँ और औषधियाँ जो मानव जीवन के लिए उपयोगी हैं, उनका विचार और प्रयोग करें। अमूल्य वन-सम्पदा को बचाने का सघन प्रयत्न करें। वेद के ऋषि-मुनियों का वनस्पति औषधियों और शस्त्रक्रिया का ज्ञान था, जिनका शोधन कर अमूल्य मानव-जीवन को दीर्घायु बनाना चाहिए।

पादटिप्पणी

१. या औषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनु ब्रभ्रूणामहंशतं धामानि सप्त च।।
(ऋ. १०/९७/२)

२. सर्वेषामेव वेदानामुपवेदं वदाम्यहम्।
ऋग्वेदस्योपवेदश्च ह्यायुर्वेदं प्रकीर्तितम्।। (च.सं. १/४५)

३. महाभारत, सभापर्वे ११/३२, नीलकण्ठ व्याख्या

४. शौनकसंहिता २/९/३

५. ऋग्वेद १/११६/१०, १/११७/१३, १/११९/७

६. ऋग्वेद १/१५८/४-६

७. अङ्गादङ्गाल्लोम्नो-लोम्नोजात पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्म सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामिते।
(ऋ. १०/१६३/६)

८. ऋग्वेद १०/१६२/१

९. ऋग्वेद २/१६२/६, १०/११/८

१०. अथर्ववेद २/३१/४

११. अथर्ववेद ४/७/४-७

१२. ऋग्वेद १/२३/२१

१३. शतपथ ब्राह्मण ३/२/२/१९

१४. अथर्ववेद सुबोध, अनुवाद, पृ. १६६

१५. भावप्रकाश, पू. १, अथर्ववेद भाष्य, पृ. १६६

१६. अथर्ववेद १/२३/१-४

१७. अथर्ववेद ५/२/१४

१८. ओजन २/९/१

१९. यजुर्वेद १२/७६

२०. शतपथब्राह्मण ३/४/४/२१

२१. अथर्ववेद ७/१४०/१-३

२२. यत् दन्तः यच्छसे ऋष्टयः इव विभ्राजन्ते।
(ऋ. ७/५५/२)

२३. अथर्ववेद ७/३०/१

२४. अथर्ववेद ६/२५/३

२५. अेजन ६/६८/१

२६. जलाषेणाभिषिञ्चत् जलाषैणीयसिञ्चते।
(अथर्ववेद ६/५७/२)

२७. चरकसूत्र ५/९५

२८. अथर्ववेद ५/१९/३, ७/१३६/३; वा.सं. १९-३३, २०-५, २५/३; शतपथ ब्राह्मण २/५/२/४८।

२९. अथर्ववेद ४/६/७, ६/१२४-३

३०. अेजन १९/६०/१

३१. ऋग्वेद ७/३४/५

३२. ऋग्वेद ७/१०४/१०

३३. शतपथ ब्राह्मण ५/२/२/४

३४. अथर्ववेद १२/२/२२।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अथर्ववेद का सुबोध अनुवाद, भाग-४, पं. श्रीपाद दामोदर सालवलेकर, पारडी, जि. वलसाड, विक्रम संवत् २०१७, इसवीय १९६१।

२. वेदों का दिव्य सन्देश, पण्डित रामशर्मा आचार्य, हरिद्वार।

३. ऋग्वेद-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, शक संवत् १९५५।

४. अथर्ववेद संहिता, पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार, सं. २०५३

५. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर महताबराय नागरी मुद्रण काशी दि.सं. १९५८।

६. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७. आपस्तम्बधर्मसूत्र, गोपालाचार्य, मैसूर विश्वविद्यालय।

८. सुश्रुतसंहिता, डॉ. भास्कर गोविन्द धाणेकर, प्रकाशक-हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस।

९. भावप्रकाश, हरिहर प्रसाद पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१९४७।

१०. शतपथ ब्राह्मण सायणाचार्य विरचित वेदार्थभाष्य समेत, प्रकाशक-गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण मुम्बई।

११. यजुर्वेद संहिता- पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य, युगान्तर प्रेस, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार, सं. २०५३।



आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का कविता विषयक चिन्तन

डॉ. अभिषेक कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी)
राजकीय महाविद्यालय ढाढ़ा बुजुर्ग
हाटा-कुशीनगर (उ.प्र.)

कविता के विषय में शुक्लजी का विचार है— "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इसी साधन को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं"। साथ ही वे यह भी कहते हैं—"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है।" इसमें शुक्ल जी के कविता सम्बन्धी विचार और चिन्तन का पता चलता है। शुक्लजी ऐसे प्रथम चिन्तक हैं, जिन्होंने कविता को हृदय की मुक्तावस्था से जोड़कर उसे मानव हृदय की मुक्ति की साधना से जोड़ा हैं। कविता को कवि हृदय का प्रकाशन कहकर काव्य-भूमि को मनुष्य की भूमि कहते हैं। उन्होंने जोर देकर कहा—"कविता ही वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" आचार्य शुक्ल की इस मान्यता से स्पष्ट होता है कि वे कविता को साधन मानते हैं न कि साध्य। कविता का लक्ष्य सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव हृदय का सामंजस्य स्थापन है। अपने इसी स्थापना के द्वारा शुक्लजी ने कविता के विषय में चली आ रही उस अवधारणा को खण्डित किया जिसमें कविता को मनोरंजन अथवा विलास का साधन समझा जाता था। शुक्लजी की दृष्टि में कविता में कवि की जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है वे अनुभूतियाँ सामान्य नहीं विशिष्ट होती हैं, जो मानव मन के विकारों का परिष्कार करती हैं और शेष सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा एवं निर्वाह करती हैं। कविता आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय तो है पर निरा भावोच्छ्वास नहीं केवल मनोभावों का व्यापार नहीं। शुक्लजीके विषय में प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह एक जगह लिखते हैं— "आचार्य शुक्ल कोरे साहित्य-समालोचक नहीं थे। वे गम्भीर अर्थ में साहित्य के समालोचक थे, जहाँ साहित्य के अन्तर्गत जीवन की चिन्ता, समाज की चिन्ता और पूरी संस्कृति की चिन्ता रहती थी।"

आचार्य शुक्ल की कविता सम्बन्धी स्थापनाएं अत्यन्त स्पष्ट और पारदर्शी है। उनकी मान्यता है कि, "जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। उनके भावात्मक हृदय और अनेक रूपात्मक जगत के सामंजस्य या तारतम्य का अनुभव मानव जाति चिरकाल से करती आयी है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर-जीवन के

प्रारम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता रहा है उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूलरूप और व्यापार कह सकते हैं।'' शुक्लजी की दृष्टि में भा की कोई प्राथमिक सत्ता नहीं है। विषय-वैविध्य से मनुष्य के भीतर की इच्छाएँ एवं उसकी बोध-दृष्टि अनेक रूपात्मक होती है, जो संघटित होकर अनुभूति का रूप प्राप्त करती हैं। कालान्तर में ये अनुभूतियाँ पूँजीभूत होकर भाव बन जाती है। प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध इन्द्रिय जनित है, जिससे उसकी इच्छा-शक्ति विकसित होती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति ही उसके संस्कारों का रूप धारण करती है। संस्कार बनते और विकसित होते हैं, जो बाद में स्थायी भाव बन जाते हैं। रति, क्रोध, शोक, भय आदि पहले वासना रूप में थे बाद में स्थायी भाव बने। यह निर्माण कई पीढ़ियों की यात्रा के बाद हुआ। आचार्य शुक्ल की इस व्याख्या से सम्बन्ध में एक समीक्षक कमला प्रसाद लिखते हैं—''शुक्लजी की इस व्याख्या से आत्मवादी रसाचार्यों की मान्यताएँ खण्डित हुईं कि स्थायी भाव सृष्टि के अस्तित्व में प्राथमिक होते हैं, जगत संयोग से उनकी केवल अभिव्यक्ति होती है।'' उनकी दृष्टि में मनुष्य इस संसार में अपनी सत्ता का प्रसार केवल ज्ञान के आधार पर ही नहीं करता वरन् हृदय भी उनकी सत्ता का प्रसार करता है। बल्कि अपनी रागात्मक वृत्ति के प्रसार के बिना मानव-जीवन का सृष्टि के साथ नैसर्गिक सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। इस धरती पर मनुष्य के अवतार का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जब उसके सुख और आनन्द का मेल प्रकृति के सुख-सौन्दर्य से हो जाए। जब अपनी रक्षा में वह वृक्ष-वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी सबको शामिल कर लें। मनुष्य को इसी उदात्त भाव-भमि पर पहुँचाने के लिए कवि, काव्य-योग की साधना करता है। अतः जो कविता प्रकृति और मनुष्य के सघन सम्बन्धों को सातत्य देने में जितनी समर्थ होगी वह उतनी ही उत्कृष्ट कविता होगी।

शुक्लजी कविता को भावयोग, कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष मानकर उसको बहुत ही ऊँचा स्थान देते हैं। कविता उनकी निगाह में शब्द-व्यापार है किन्तु इसका वैशिष्ट्य भाव-संचरण के निमित्त है। मनुष्य का भाव-संचरण इस संसार के भीतर ही होता है। मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जिस सामग्री को संकलित करता है वही उसकी भावना या कल्पना की योजना करती है। उसका ज्ञान उसके भावों के संचरण का मार्ग खोलता है। शुक्लजी के शब्दों में—''ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार होता है।'' इस कारण इस जगत के बारह उसकी कल्पना की कोई यथार्थ सत्ता नहीं है। उनका विचार है कि—''कविता जीवन से ही उत्पवन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न करना कहीं की बात कहीं लगाना है।'' वे कविता के अन्तर्बाह्य पक्ष को भलीभाँति समझते हैं और अपने तर्क तथा विवेक से उसके समूचे अस्तित्व तथा व्यापार को संक्षेप में प्रस्तुत भी कर देते हैं। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का विचार हैं—''.......कविता का स्वरूप समझाने के लिए सबसे पहले वासना का विचार किया गया है, फिर सभ्यता के बढ़ते आवरण का, फिर उसकी प्रसार सीमा का, फिर सृष्टि में मार्मिक तथ्यों के संकेतों का। शेष शीर्षक ये हैं—काव्य और व्यवहार, मनुष्यता की उच्चभूमि, सौन्दर्य, चमत्कारवाद, कविता की भाषा, अलंकार कविता पर अत्याचार और कविता की आवश्यकता''।

आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि में जैसे-जैसे मनुष्य अपनी सभ्यता के आवरण में ढकता जायेगा वैसे-वैसे उसका कार्य-व्यापार बहुरूपी और जटिल होता

जायेगा। कार्य-व्यापार की बहुरूपता एवं जटिलता से मनुष्य के सामने जीवन के सीधे एवं सरल लक्ष्य के अलावा बहुत सारे लक्ष्य होंगे। वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवाय बुद्धि द्वारा निश्चित विधानों का प्राधान्य होगा। उसके मूल व्यापार ढकते जायेंगे। ऐसे में कवि-कर्म भी कठिन होता जायेगा। कवि को मनुष्य के हृदय से सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियों पर पड़े परदे को उद्घाटित करना होगा। तभी उसके कवि-कर्म की सार्थकता होगी। वे कहते हैं—"ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायेगा।" कवि को कविता के लिए भावों के उन मूल और आदिम वृत्तियों तक यात्रा करनी होगी, जिससे मनुष्य का बहुत ही सीधा और पुराना लगाव है। इनको मूर्त और गोचर रूप में सामने रखना होगा। तभी जाकर कविता का वास्तविक ढाचा निर्मित हो सकेगा। शुक्लजी यहाँ तक कहते हैं कि अमूर्त भावों की गहरायी में भी भावों के मूर्त और गोचर रूप प्राप्त हो सकते हैं। इस हेतु उन्होंने मनुष्य के भीतर ही यशोलिप्सा का दृष्टान्त सामने रखा है। इसीलिए शुक्लजी ने कविता में चित्रभाषा की आवश्यकता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में कोई भी विषय मूर्त एवं गोचर रूप में तभी सामने आ सकता है जब कवि की भाषा बिम्बात्मक हो। उनका विचार है—"काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।" इस निमित्त उन्होंने तराजू लिए हुए बनिए का मूर्त चित्र का उदाहरण सामने रखा है, जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव नहीं होता।

आचार्य शुक्ल की निगाह में कविता मनुष्य की अन्तः और बाह्य प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए उसकी भावनात्मक सत्ता का प्रसार करती है। मनुष्य के भीतर मनुष्यता का प्रसार तभी हो सकता है, जबकि उसके अन्तः का सम्बन्ध शेष सृष्टि अर्थात् नदी, नाले, वन, पर्वत, जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पति, दीन-दुःखी, स्त्री, अनाथ, अबला सबके साथ जुड़ जाएं। उनका विचार है कि—"यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हीर घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर की बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुःखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलावों पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया?" इसी क्रम में वे समस्त सृष्टि को विश्व-काव्य की संज्ञा देते हुए कहते हैं—"इस विश्व-काव्य की रस-धारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।" कड़कती धूप में प्रकृति की श्यामल घटा की स्निग्धता और शीतलता से अथवा नदी की अविराम जीवन-धारा से केवल पशु-पक्षी, पेड़-पौधे ही प्रफुल्लित नहीं होते वरन हम भी उसमें द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। प्रकृति अपनी विविध लीलाओं से हमें कपाती है। शुक्लजी की निगाह में प्रकृति के विभिन्न प्रकार के भीषण और मधुर रूप इस विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं, जिसकी अनुभूति इस स्वार्थ-भूमि में लिपटे हुए मनुष्य को कदापि नहीं हो सकती। उसकी अनुभूति किसी सच्चे योगी या कवि को ही हो सकती है।

शुक्लजी यह स्वीकार करते हैं कि रचनाकार की दृष्टि तीन क्षेत्रों में रमण करती है—मानव जगत में, बाह्य सृष्टि में और समस्त चराचर में। प्रकृति की भूमिका इन तीनों ही क्षेत्रों में विद्यमान है। इसीलिए वे यह कहते हैं—"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है–कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में; कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।" अत: मनुष्य के चतुर्दिक् जो विशाल प्रकृति है वह केवल विलास या शारीरिक सुख का साधन नहीं है। इस कारण जो कोई भी मनुष्य अनन्त प्रकृति के भीतर केवल शारीरिक सुख या विलास का साधन ढूँढता है उसकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित है। उसमें रागात्मक तत्त्व की कमी है। वह रागात्मक तत्त्व जो मानव हृदय की विशालता का आभास देती है। इसीलिए शुक्लजी ने प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप को ठीक नहीं माना है। इस सन्दर्भ की चर्चा करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र की रस निरूपण पद्धति की सीमा खड़ी की है। वे कहते हैं—"साहित्यशास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलंबनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान नहीं मिला है। वह उद्दीपन-मात्र ही मानी गयी है।" हालाँकि उन्होंने संस्कृत साहित्य में बाल्मीकि रामायण, कालिदास विरचित कुमारसम्भव, रघुवंश और मेघदूत तथा भवभूति के उत्तररामचरित ग्रन्थों के प्रकृति वर्णन की जोरदार सोदाहरण तारीफ की है।

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपने काव्यात्मक चिन्तन में बहुत सारे ऐसे बुनियादी सवालों से टकराते है, जिनका अस्तित्व में बने रहना मानवीय अस्तित्व के लिए न केवल जरूरी है, वरन अपरिहार्य है। आज का आदमी प्रकृति का जिस प्रकार से दोहन करता जा रहा है, उसके लिए शुक्लजी की काव्यचिन्तन की भूमि से यह चेतावनी सचेत करने वाली है—"मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कट कर खेत, गाँव और नगर बनते जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छीनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जाएँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, मानों उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अत: उनमें से किसी की चेष्टा विशेष से इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी।" इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि शुक्लजी का काव्य-चिन्तन कितना विस्तृत व गहरा है। इसी काव्य-चिन्तन के धरातल से प्रकृति की उस निर्जीव या जड़ संसार से जीवन की मार्मिक अनुभूति सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता आदि की भावना प्राप्त करने का आवाहन करते हुए कहते हैं—"काव्य का अनुशीलन करने वाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बड़ी नहीं रहती है। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप, गति, आदि से भी हम सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं।"

उनकी दृष्टि में इस जड़ जगत के भीतर जिन परिस्थितियों अथवा व्यापारों को को हम देखते हैं वे अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं, जो

जीवन के लिए प्रेरणा का कार्य करते हैं। उन्होंने सोदाहरण इस बात को स्पष्ट किया है कि सरोवर किनारे जिन पक्षियों का बराबर कलरव होता रहता है वे ही उसके सूख जाने पर उस स्थान का परित्याग कर देते हैं। जो कवि प्रकृति की प्रफुल्लता अथवा हरियाली का वर्णन करते हैं, उसके वर्णन में नूतन शक्ति का संचय एवं पोषण करने वाली दृष्टि का सन्निवेश होना चाहिए। नदी के वर्णन में केवल उसकी उच्छृङ्खलता का ही नहीं बल्कि उसकी मर्यादा का वर्णन होना चाहिए क्योंकि उनका मानना है कि—"उच्छङ्खलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बंधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है, जिसमें वेग के उच्छङ्खलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृङ्खलता वेग जीवन का या जगता का नित्य स्वरूप नहीं है"। गजब है आचार्य शुक्ल की दृष्टि, विषय की उनकी समझ, प्रकृति को जीवन से जोड़ देने की उनकी कला। उनकी निगाह में जिस कवि की दृष्टि नर-क्षेत्र की अपेक्षा समस्त चराचर से मार्मिक तथ्यों का चयन करती है वह बहुत व्यापार और गम्भीर होती है— "जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्यबुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँच रहता है जहाँ उसकी वृत्ति शांत और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।"

शुक्लजी के निबन्ध 'कविता क्या है' में एक शीर्षक है 'काव्य और व्यवहार' यहाँ पर वे इस धारणा को खारिज करते हुए दिखते हैं कि काव्यानुशीलन से अकर्मण्यता आती है। उनकी दृष्टि में कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का विस्तार कर देती है। मनुष्य इस संसार में अपनी तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल पर किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है वरन् उसकी भावात्मिका वृत्ति ही उसे सांसारिक कर्म में प्रवृत्त करती है। इस हेतु वे कई दृष्टान्त सामने रखते हैं। चाणक्य की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि जिस समय वह अपनी नीति की सफलता हेतु किसी निष्ठुर कार्य में प्रवृत्त दिखलाई पड़ते हैं, उस समय भी उन कार्यों के मूल में उसके अन्त: की कठोरता नहीं बल्कि दया, करुणा आदि मनोविकार ही काम कर रहे होते हैं। नन्द वंश के प्रति बैर या क्रोध की भावना मूल में भी उसकी अन्त:करण की रागात्मिका वृत्ति ही है, जो बार-बार उसे झकझोरती रहती है। ऐसे ही जब कोई आततायी किसी देश की निरपराध जनता पर अत्याचार कर रहा होता है तो उस समय भले ही वह दया, करुणा आदि की भावना से रहित बुद्धि का कठपुतली दिखलाई पड़ता हो, किन्तु उसके इस कार्य के मूल में भी अपने देशवासियों के लिए सुख की उत्कण्ठा, अपने जाति की श्रेष्ठता तथा दूसरे जातियों के प्रति बैर या क्रोध का भाव ही मिलेगा। उनक मानना है कि अमुक कार्य अच्छा है या बुरा, लाभदायक है अथवा हानिकारक इतने ज्ञान मात्र से ही हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। हम तभी किसी कार्य को करने में उद्यत होते हैं जब उस कार्य का कोई परिणाम हमारी भावना में आकर हमें आह्लाद, क्रोध, भय, करुणा या उत्कण्ठा से भर देता है। वे कहते हैं कि "शुद्ध-ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं

होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है।'' इस सन्दर्भ में उन्होंने एक उदाहरण रखते हुए कहा है कि जैसे किसी देश की जनता के बीच यदि यह कहा जाये कि अमुक देश के प्रति वर्ष तुम्हारा रुपया उठा ले जाता है तो शायद यह बात असर पैदा न करे, किन्तु जब इस कार्य के परिणामस्वरूप होने वाले जनता की गरीबी, दरिद्रता, भुखमरी, अकाल, पेट की ज्वाला, माताओं का आर्त-क्रंदन आदि के दृश्य दिखलाये जायें या सुनाया जाये तो बहुत सारे लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस स्थिति को सुधारने का संकल्प भी लेंगे। पहले ढंग की बात राजनीतिक अथवा अर्थशास्त्री करते हैं, किन्तु दृश्य उपस्थित कर देना कवि का कार्य है। इसी धरातल पर कविता व्यवहार का बाधक नहीं वरन् कर्म-क्षेत्र का विस्तार करने वाली होती है।

शुक्लजी की दृष्टि से मनुष्य और पशु का भेद उसके ज्ञान और भाव के कारण से ही है। मनुष्य का न केवल ज्ञान-प्रसार पशु से अधिक है, बल्कि उनका भाव-प्रसार भी उससे बड़ा है। पशु की पहुँच केवल अपने जोड़े, बच्चे अथवा खिलाने-पिलाने एवं स्वयं को सताने वाले के प्रति क्रोध तक ही सीमित है, स्वर्ग या पशुमात्र तक उसकी पहुँच नहीं है। जबकि आदमी के ज्ञान का तथा उसके भाव का निरन्तर प्रसार होता गया है। उसकी पहुँच उसके परिजनों, सम्बन्धियों, मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र तक है। वह केवल मनुष्य को सताने वालों को देखकर ही क्रोधित नहीं होता है वरन गाय-बैल, कुत्ते-बिल्ली की वेदना को देखकर भी दुःखी हो जाता है। एक बानर-बनरिया के सौन्दर्य पर ही मुग्ध होता है जबकि मानव के सौन्दर्य का दायरा पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, रेत-पत्थर तक फैला हुआ है। शुक्लजी का विश्वास है कि मनुष्य के हृदय का जो प्रसार है उसके मूल में काव्य है, जिसकी उत्तेजना से उसके जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर वह रसमग्न होता है तथा कोई निष्ठुर कार्य उसके लिए असह्य हो जाता है। उनका विचार है—''कवि वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है।'' यही नहीं, उनका विश्वास है कि कविता के द्वारा ही बुरे से बुरे मानव हृदय को भी प्रकृत दशा में लाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में वे पुलिस कर्मचारी तथा अर्थ-पिशाच कृपण का दृष्टान्त भी सामने रखते हैं। उनकी निगाह में इनका हृदय इतना कठोर हो जाता है कि इन्हें स्वप्न में भी दूसरों के दुःख और क्लेश की भावना नहीं होती है। ऐसे पाषाण हृदयों पर संसार के किसी भी मार्मिक-पक्ष का असर नहीं पड़ता है। वे कहते हैं कि इनकी दवा और कुछ नहीं सिर्फ और सिर्फ कविता है क्योंकि ''कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिक से अधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।'' इसी भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य का हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। समस्त जगत के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। उसकी पृथक भावसत्ता समाप्त हो जाती है। शुक्लजी के शब्दों में—''उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।''

शुक्लजी ने उस विश्वास को भी अपनी स्थापना से खण्डित किया है, जिसमें कविता को मनोरंजन का साधन कहा जाता है। उनका विचार है कि ''प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन

है। ....कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामञ्जस्य-स्थापन है।'' स्पष्ट है कि शुक्लजी का कविता सम्बन्धी उद्देश्य बहुत गम्भीर है। उनकी निगाह में जो कविता को मनोरंजन की दृष्टि से पढ़ते हैं उनकी स्थिति गन्तव्य तक पहुँचने वाले पथिक की नहीं वरन मार्ग में ही रह जाने वाले पथिक की होती है। कविता से मनोरंजन अवश्य होता है किन्तु कविता मनोरंजन के अलावा भी बहुत कुछ होती है। मनोरंजन के द्वारा कविता पाठक के चित्त को विचलित नहीं होने देती। स्थिर किये रहती है, किन्तु जहाँ वह मनोरंजन से आगे की वस्तु है वहाँ वह मानव-हृदय पर एक विराट असर पैदा करती है। उसे जीवन के सौन्दर्य और कुरूपता का ज्ञान करा देती है। शुक्लजी इस सन्दर्भ में कहते हैं—''कविता अपनी मनोरंजन शक्ति द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त रमाये रहती है, जीवन-पट पर....कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है।..... सौन्दर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौन्दर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।'' शुक्लजी जोर देकर इस बात को कहते हैं कि यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य मन को अनुरंजित करना अथवा सुख पहुँचाना ही मान लिया जायेगा तो वह विलास की सामग्री कहलाएगी। इस सन्दर्भ में वे महर्षि वाल्मीकि और गोस्वमी तुलसीदास का दृष्टान्त सामने रखते हुए कहते हैं— ''......क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास-ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायेगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं।''

सौन्दर्य को लेकर शुक्लजी की अपनी विशिष्ट मान्यता है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य कोई बाहर की वस्तु नहीं है, वह भीतर की वस्तु हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सुन्दर वस्तु से पृथक् होकर सौन्दर्य की कोई अलग से सत्ता नहीं है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार वीरता वीर कर्म से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है। इसीलिए सौन्दर्यानुभूति को उन्होंने मानव की अन्त:सत्ता की तत् आकार परिणति का नाम दिया है। इस विषय में वे कहते हैं—''कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्त:सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। उनका यह मानना कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना अथवा उसकी तदाकार परिणति जितनी अधिक होती है वह वस्तु हमारे लिए उतनी ही सुन्दर कहलाती है। इसके विपरीत कुछ वस्तुओं की प्रतीति या भावना हमारे लिए एक मानसिक बोझ सी हो जाती है। शुक्लजी की दृष्टि में सुन्दर और कुरूप काव्य के ये ही दो पक्ष हैं। इसके अलावा भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी-उपयोगी ये शब्द उनके विचार से काव्य के क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। उनका स्पष्ट कहना है—''शुद्ध-काव्य के क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर''। धार्मिक जिस चीज को शुभ अथवा मंगल समझता है कवि की निगाह में वही सुन्दर कहलाता है। कवि की दृष्टि सौन्दर्य पर ही टिकी रहती है। वह सुन्दरता चाहे वस्तुओं के रूप-रंग में हो अथवा मनुष्य के मन,

वचन और कर्म में हो। राम और रावण की कल्पना भी इसी सुन्दर और असुन्दर की कल्पना है। राम की रूप माधुरी और रावण की विकरालता मनुष्य के अन्त: का ही प्रतिबिम्ब है। कवि उत्कर्ष साधना के लिए अथवा प्रभाव-वृद्धि के लिए कई प्रकार के सौन्दर्य का मेल किया जाता है। प्रकृति सौन्दर्य भी इसी का दृष्टान्त है। मनुष्य के अन्त: और बाह्य सौन्दर्य में प्रकृति का सौन्दर्य मिल जाने से कवि-वर्णन का प्रभाव और बढ़ जाता है। इस हेतु वे चित्रकूट की प्राकृतिक आभा के बीच राम और भरत की रूप-माधुरी की रम्य अन्त:प्रकृति की अद्‌भुत मनोहरता का उदाहरण भी देते हैं।

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में कविता मानव जीवन के लिए सर्वाधिक प्रयोजनीय वस्तु है, जो जगत की समस्त सभ्य और असभ्य जातियों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। इतिहास, विज्ञान और दर्शन समाप्त हो सकते हैं किन्तु कविता का प्रचार अवश्यमेव बना रहेगा। इसका कारण यह कि मानव अपने ही कार्य-व्यापारों का ऐसा जटिल और सघन मण्डल हैं, जिसमें बँधकर शेष समस्त सृष्टि के साथ अपने हृदयगत सम्बन्धों को भुला-सा रहता है। ऐसी परिस्थिति में उसे अपनी मनुष्यता के खोने का भय बराबर बना रहता है। इसीलिए उसकी अन्त:प्रकृति को जगाते रहने के लिए कविता उसके साथ अनादि काल से चलती चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। पशुओं को कविता की आवश्यकता नहीं। स्वयं शुक्लजी के ही शब्दों में—".....अन्त:प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली जायेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।



सनातनसंस्कार मीमांसा

डॉ. संदीप कुमार पाण्डेय
विभागाध्यक्ष, ज्योतिषविभाग
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

मानव जीवन की उन्नति में संस्कारों का विशिष्ट महत्व है। मानव के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त भिन्न-भिन्न समय पर संस्कारों की व्यवस्था प्राचीन ऋषि-मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है। मनुष्य जन्म से अबोध होता है, परन्तु संस्कारों से मनुष्य के आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व का निखार व परिष्कार होता है। अस्वाभाविक संस्कार द्वारा बन्धन तथा स्वाभाविक संस्कार द्वारा मोक्ष माना गया है। पहले यह प्रश्न उठता है कि संस्कार किसे कहते हैं और वे क्यों किये जाते हैं? इसका उत्तर यह है—जिन कर्मों के द्वारा मनुष्य विशुद्ध होकर निर्वाण (मोक्ष) पद का अधिकारी होता है, उसे संस्कार कहते हैं। अर्थात् अपनी-अपनी जाति मर्यादा के अनुकूल सामान्याविशेष वैदिक और स्मार्त्त कर्मों के आचरण से मनुष्य अपने को विशुद्ध बनाकर मोक्षाधिकारी होता है। आत्यन्तिक सुख स्थान होने के कारण मोक्ष प्राप्ति ही मनुष्य मात्र का मुख्य लक्ष्य है। इसलिए मनुष्य मात्र के लिए संस्कार आवश्यक है। इसी कारण आर्यशास्त्र में संस्कारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। आर्यशास्त्र में संस्कार रहित के जन्म निरर्थक माना गया है। यथा—

**''अतः परं द्विजातीनां संस्कृतिर्नियतोच्यते ।
संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्[१]''।।**

(महर्षि आश्वलायन)

द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिये नियत संस्कारों के अनुष्ठान न करने से द्विज-जन्म ग्रहण निरर्थक होता है।

**''स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः ।
कर्त्तव्या भूतिकामेन नान्यथा सिद्धिमृच्छति''[२]।।**

(महर्षि अङ्गिराः)

अभ्युदय चाहने वाले द्विजगण को स्वकीय गृह्यविधि के अनुसार संस्कारों का आचरण अवश्य करना चाहिये, अन्यथा सिद्धि लाभ नहीं होता है।

संस्कारों से ही मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है। महर्ष्धि मनु ने इस विषय में बहुत ही सत्य लिखा है—

**''वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च''[३]।।**

(मनु)

द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिये। क्योंकि इस लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले संस्कार है।

**''गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते''[४]।।**

(मनु)

गर्भ सम्बन्धी हवन (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन-संस्कार) जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयन संस्कारों के द्वारा द्विजों के गर्भ एवं वीर्य सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।

**''जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
वेदपाठात् भवेद् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'' ।।**

अतएव सुख, समृद्धि एवं कल्याण चाहने वाले प्रत्येक वर्ण के गृहस्थी मनुष्य को भरतीय परम्परा एवं संस्कृति का अनुगमन करते हुए गर्भाधान, पुंसवन, नामकरणादि संस्कारों को धारण करना चाहिए। शास्त्रविधि अनुसार बच्चे के संस्कार करने से बालक या कन्या मेधावी, धनी, यशस्वी एवं दीर्घायु होता है।

महर्षि दयानन्द जी ने संस्कारों का महत्त्व इस प्रकार बताया है—

"जिसके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है"।

"संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ।।
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः"[५]।।

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत ही पवित्र तथा असंस्कृत को अपवित्र कहते हैं। अतः शिक्षा तथा औषधियों से सुखवर्धक संस्कारों के करने में बुद्धिमानों को सदा उद्यम् करना चाहिए।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है। जन्म-जन्मान्तरों में उसके साथ सूक्ष्म शरीर मुक्ति पर्यन्त रहता है और यही सूक्ष्म शरीर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों या वासनाओं का वाहक होता है। ये संस्कार शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, उसको नई परिस्थिति के भी बहुत से शुभाशुभ प्रभाव मिलते हैं। उनमें बुरे प्रभावों को अभिभूत करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत कराने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता होती है।

"स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनुः"[६]।।

(मनुस्मृति)

वेदमन्त्रों के प्रभाव से अन्तःकरण में शुभ संस्कारों का उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदों के स्वाध्याय, व्रत तथा होमों से त्रयी विद्या के ज्ञान से, यागानुष्ठान से, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति से और पञ्चमहायज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों से द्विज शरीर ब्रह्मप्राप्ति योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार के संस्कारों का साधारण फल मन्त्रादि स्मृतिकारों ने बताया है।

शूद्रों के भी संस्कार स्मार्त्तमन्त्र से—

"शूद्रोऽप्येवं विधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः" ।

(यम संहितायाम्)

अर्थात् शूद्र वर्ण के भी ये सब संस्कार बिना वैदिक मन्त्र के होने चाहिये। वेद में अधिकार न होने के कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कार का निषेध है।

षोडश संस्कार की संज्ञा गर्भाधान आदि
"गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया-निष्क्रमणेऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्नि-परिग्रहः ।।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशस्मृताः ।
नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्ज क्रियाः स्त्रियः ।।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश"[७] ।।

(व्यासस्मृतिः)

अर्थात् सोलह संस्कार कहे गये हैं। यथा— गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह, आवसथ्याधान और श्रौताधान ये सोलह संस्कार हैं। इनमें से कर्णवेध

पर्यन्त नव संस्कार द्विज कन्याओं के वेदमन्त्रों को छोड़कर स्मार्त्तमन्त्रों से होने चाहिये और दशम् अर्थात् विवाह संस्कार वेदमन्त्रों से होना चाहिये। कर्णवेध पर्यन्त नव और दशवाँ विवाह ये दश संस्कार शूद्रों के वेदमन्त्र छोड़ केवल स्मार्त्तमन्त्र से होने चाहिये।

गर्भाधान संस्कार—यह पहला संस्कार है, जो स्त्री के ऋतु (रजस्वला) स्नान के बाद किया जाता है। भार्या के स्त्री धर्म (रजोदर्शन) में होने के सोलह दिन तक वह गर्भाधारण के योग्य रहती है।

'भर्तुः स्पृश्या चतुर्थेऽहनिस्नाता स्त्री च रजस्वला' इन वचनों से चौथे दिन स्नान करने के बाद स्त्रियाँ शुद्ध होती हैं।

''युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्''[८]।।

(मनु)

श्री मनु के इस वचन से पुत्रोत्पत्ति की कामना से ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६वीं रात में और कन्योपत्ति की कामना से ५, ७, ९, ११, १३, १५वीं रात्रि में स्त्री संसर्ग करना चाहिये।

''भद्राषष्ठीपर्वरिक्ताश्च सन्ध्या-
भौमार्कार्कीनाद्यरात्रीश्चतस्त्रः ।
गर्भाधानं त्र्युत्तरेन्द्वर्कमैत्रब्राह्म-
स्वातीविष्णुवस्वम्बुपेसत्''[९] ।।

(मुहूर्त्तचिन्तामणि)

भद्रा, षष्ठी, पर्व (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा) एवं रिक्ता (४, ९, १४) तिथियाँ, सन्ध्या काल, भौम, रवि और शनिवार तथा ऋतुकाल की प्रारम्भिक चार स्त्रियाँ गर्भाधान में त्याज्य हैं।

तीनों उत्तरा (उ.फा., उ.षा., उ.भा.), मृगशिरा, हस्त, अनुराधा, रोहिणी, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा इन नक्षत्रों में गर्भाधान शुभ होता है।

पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कार—पुंसवन संस्कार का मुख्य उद्देश्य है गर्भ में पुरुष जातक हेतु संस्कार करना। 'पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति पुंसवनम्' इस व्युत्पत्ति से पुंसवन संस्कार करने पर पुत्र की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से गर्भाधान से तीसरे मास में पुंसवन संस्कार किया जाता है। सीमन्त संस्कार गर्भ का संस्कार है, गर्भ में शिशु की स्थिति एवं विकास में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो इसी उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। इसे केश उत्पन्न होने के उपलक्ष्य में होने वाला संस्कार भी कहा जाता है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु के शिर एवं शरीर में रोम की उत्पत्ति गर्भ से छठें मास में होती है। सीमन्त का अर्थ भी केश ही होता है। अतः यह केश संस्कार ही है।

गर्भ में मासों के अनुसार शिश का विकास क्रम इस प्रकार है—

''कललघनाऽवयवास्थित्वक्रोमस्मृतिसमुद्भवः''[१०]।

(मुहूर्तचिन्तामणि, संस्कारविमर्शः)

प्रथम मास में रक्तसञ्चय, द्वितीय में पिण्डरूप, तृतीय में अङ्ग निर्माण, चतुर्थ में हड्डी, पाँचवे में चर्म, छठे मास में रोम, सातवें में स्मृति (चेतना), आठवें और नवम मास में शिशु का शारीरिक विकास होता है।

''पुंभेऽर्केज्याखारे विमिथुनविषमाङ्गांशयोः पुंसवं स्यात्,
सीमन्तारव्यं च सत्सु व्ययसुतगृहयोः पर्वरिक्तोनतिथ्याम् ।
मासे द्वित्रिप्रसंख्ये प्रथमकमपरं तुर्यषष्ठाष्टमेषु
प्रोक्तं पुंगर्भलग्नं ग्रहबलमनयोर्ज्यमाद्यश्च पक्षः''[११]।।

अर्थात् पुरुष संज्ञक पुनर्वस, पुष्य, हस्त, पूर्वाभाद्रपद, अश्विनी और अनुराधा नक्षत्रों में, सूर्य, गुरु और मंगलवारों, मिथुन रहित शेष मेष, सिंह, तुला और कुम्भ इन विषम लग्नों और विषम लग्न नवांशों में, जिस लग्न से पाँचवाँ और बारहवाँ भाव शुद्ध हो या शुभ ग्रहों से युक्त हो उस लग्न में, पर्व और रिक्ता रहित शेष शुभ तिथियों में पुंसवन और

सीमन्त संस्कार किये जाने चाहिए। गर्भाधान के दूसरे और तीसरे महीनों में पुंसवन तथा गर्भाधान से चौथे, छठे, आठवें मास में सीमन्त संस्कार शुभ कहा गया है। पुरुष ग्रहलग्न और गर्भाधानोक्त ग्रहलग्न में शुक्लपक्ष में करना चाहिये।

जातकर्म-नामकरणसंस्कार—जातकर्म संस्कार पुत्र के जन्मकाल में ही उसके ग्रहदोष की शान्ति और कल्याण की कामना से पिता को करना चाहिये। ब्राह्मणादि वर्णक्रम से, ब्राह्मण से नवजात शिशु का नामकरण जन्म दिन से बारहवें दिन, क्षत्रिय बालक का सोलहवें दिन, वैश्य बालक का बीसवें दिन और शूद्रज बालक-बालिका का नामकरण संस्कार बाईसवें दिन में करना चाहिए।

"तज्जातकर्मादिशिशोर्विधेयं
पर्वाख्यारिक्तोनतिथौशुभेऽह्नि ।
एकादेश द्वादशकेऽपि
घस्त्रेमृदुध्रुवक्षिप्रचरोडुषु स्यात्"[१२]**।।**

अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या आदि पर्वसंज्ञक एवं रिक्ता संज्ञक (४,९, १४) तिथियों को छोड़कर शेष तिथियों में, शुभ दिनों में जन्म से ग्यारहवें अथवा बारहवें दिन, मृदु-ध्रुव-क्षिप्र और चर संज्ञक (मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, तीनों उत्तरा, रोहिणी, हस्त, अश्विनी, पुष्य, स्वाती पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा और (शतभिषा) नक्षत्रों में नवजात शिशु का जातकर्म और नामकरण संस्कार करना चाहिये।

अन्नप्राशन संस्कार

"चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोरनिष्क्रमणंगृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले[१३]**।।**
निष्क्रमणं चतुर्थ मासे गमोक्तसमयेऽर्कमितेऽह्नि वा स्यात्"[१४]**।।**

अर्थात् शिशु का निष्क्रमणिका संस्कार (घर से निकलने का संस्कार) जन्म से चौथे महीने में या बारहवें दिन, यात्रा हेतु बताये गये मुहूर्तों में नवजात बालक को प्रथम बार घर से बाहर निकालना शुभ होता है।

"रिक्तानन्दाष्टादर्शं हरिदिवसमथो सौरिभौमार्कवारान्,
लग्नं जन्मर्क्षलग्नाष्टमगृहलवगं मीनमेषालिकञ्च ।
हित्वा षष्ठात्समे मास्यथ हि मृगदृशां पञ्चमादोजमासे,
नक्षत्रैः स्यात् स्थिरारव्यैः समृदु-लघु-चरैर्बालकाऽन्नप्राशनं सत्"[१५]**।।**

बालकों का छठे आदि सम (६, ८, १०, १२) मास में और कन्याओं का पञ्चम आदि विषम (५, ७, ९, ११) मास में, मृदु-लघु-चर-स्थिर संज्ञक नक्षत्रों में प्रथम बार अन्नप्राशन (अन्न खिलाना) शुभ होता है। उस अन्नप्राश में रिक्ता (४, ९, १४), नन्दा (१, ६, ११) अष्टमी, अमावस्या और द्वादशी तिथियों, शनि, मंगल, रविवारों, जन्मराशि और जन्मलग्न से अष्टम भाव में स्थित राशि के नवमांश वाले लग्न तथा मीन-मेष-वृश्चिक लग्नों का त्याग करना चाहिये।

चूड़ाकर्म एवं कर्णवेध संस्कार

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्[१६]**।।**
चौलं माघादिपञ्चस्वमधुषुगदितं द्वित्रिपञ्चोन्मितेऽब्दे ।
स्वाचाराद्वा सगर्भा यदि भवति जनन्यत्र नो कार्यमेतत् ।
साकं यत्रोपनीत्या क्रियत इह तदा यन्निरोधो नहि स्या-
ज्जह्यादम्बार्तवेऽदोव्रातमुपयमनं चा विशुद्धेः शुभार्थी[१७]**।।**

जन्म से दूसरे, तीसरे और पाँचवें वर्ष में ही चौल संस्कार होता है। चैत्र रहित माघादि पाँच मासों अर्थात् माघ, फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ मासों में बालक का चूड़ाकरण संस्कार शुभ होता है। यदि इन वर्षों में माता गर्भिणी हो तो बालक का चूड़ाकरण नहीं किया जाना चाहिए।

यदि उपयन के साथ ही चौल-मुण्डन संस्कार किया जाता है तो माता की गर्भिणी व चैत्र मास का निषेध नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ उपनयन संस्कार का ही प्राधान्य है। किन्तु माता के रजस्वला की स्थिति में उक्त संस्कार नहीं किये जा सकेंगे।

चैत्र, पौष, तिथिक्षय, हरिशयनकाल, जन्ममास, रिक्तातिथि, सम वर्ष एवं जन्मसंज्ञक प्रथम तारा इन सबको छोड़कर जन्म से छठें, सातवें, आठवें मासों में अथवा जन्म से बारहवें एवं सोलहवें दिनों में शुभ वारों में, विषम वर्षों में, श्रवण, धनिष्ठा, पुनर्वसु, मृदुसंज्ञक एवं लघुसंज्ञक नक्षत्रों में कर्णवेध (कान छेदना) शुभ होता है।

यज्ञोपवीत एवं वेदारम्भ संस्कार—गर्भ में रहने के समय से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का, बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिये—

''गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादिकादशेराज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः ।।
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे''[१८]।।

श्री मनु के इस वचन से अध्ययन की और चरित्र की समृद्धि (ब्रह्मवर्चस) की कामना करने वाले ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें वर्ष में, बल की कामना करने वाले क्षत्रिय का छठे वर्ष, धनार्जनादि में अधिक चेष्टा करने की इच्छा रखने वाले वैश्य का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में किया जाना चाहिये—

''आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ।।
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः''[१९]।।

श्री मनु के इस वाक्य के अनुसार उपनयन के नित्य काल से (८, ११, १२) द्विगुणकाल, (१६, २२, २४) तक गौणकाल रहता है। उसके बाद उपनयन नहीं होने पर मनुष्य पतित होता है। इसलिये ब्राह्मणों का सोलहवें वर्ष तक, क्षत्रियों का बाईसवें वर्ष तक और वैश्यों का चौबीसवें वर्ष तक उपनयन अवश्य हो जाना चाहिये।

''विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाजनोर्वाऽष्टमे,
वर्षे वाप्यथपञ्चमेक्षितिभुजां षष्ठेतथैकादशे ।
वैश्यानां पुनरष्टमेऽप्यथ पुनः स्याद् द्वादशेवत्सरे,
कालेऽथ द्विगुणे गते निगदिते गौणं तदाहुर्बुधाः''[२०]।।

'वेदारम्भ' उसको कहते हैं, जो गायत्रीमन्त्र से लेकर साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।

समय—जो दिन उपनयन संस्कार, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन करे। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे।

केशान्त कर्म और समावर्तन संस्कार—उपनयन के बाद ब्रह्मचर्यावस्था में रहने पर ब्रह्मचारियों का केशच्छेदन निषेध होने के कारण ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर केशच्छेदन होता है। उसी को केशान्तकर्म कहते है। वह भी प्रत्येक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये अलग-अलग काल में कहा गया है।

''केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः''[२१]।।

इस केशान्त कर्म को गोदान कर्म भी कहते हैं। उसके बाद समावर्तन कर्म अर्थात् ब्रह्मचर्य की समाप्ति होती है और उसके बाद गृहस्थाश्रम में जाकर विवाह होता है। जैसे वशिष्ठजी ने कहा है—

''अधीत्यवेदांश्च तदर्थशास्त्राण्यभ्यस्य-
लब्ध्वा स्वगुरोनुज्ञाम् ।
कुर्यात् समावर्त्तनकर्म पश्चाद्-
गोदान्तः पाणिनिपीडनात् प्राक्।।

केशान्तं षोडशे वर्षे चौलोक्तादिवसे शुभम्।
व्रतोक्तदिवसादौ हि समावर्त्तनमिष्यते''[२२]।।

विवाह संस्कार—सोलह संस्कारों में विवाह संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समावर्तन संस्कार के पश्चात् विवाह संस्कार किया जाता है। शास्त्र का आदेश है—

''अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमेकमपि द्विजः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेदेषधर्मः सनातनः'' ।।

अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम में तुरन्त प्रवेश करना चाहिये। एक क्षण भी अनाश्रमी (बिना किसी आश्रम के) नहीं रहना चाहिये। अतः समावर्तन के पश्चात् विवाह करके मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाता है। गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम होता है।

भगवान् व्यास ने लिखा है—

''धर्मार्थकामसम्प्राप्तिः परत्रेह च शोभनम्।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो गृहस्थाश्रम उत्तमः'' ।।

"नापुत्रस्य लोकोऽस्ति" इस श्रुति और "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गं नैव च नैव च" इस व्यास के वाक्य से पुत्रहीन मनुष्य की कहीं भी गति नहीं होती। इसलिये स्वर्गादि सुख का मूलभूत कारण पुत्र की उत्पत्ति की कामना से मनुष्य को विवाह करना पड़ता है।

''ब्राह्मो दैवस्तथाचार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः''[२५]।।

श्री मनु के वचन से विवाह आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह अनुकूल (कथित) काल में किये जाते हैं और आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच ये चार विवाह सर्वदा (जब कभी) किये जाते हैं। इस पुण्यभूमि कर्मक्षेत्र भारतवर्ष में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह की ही प्रधानता है, जिनमें विवाहोत्तर फल के लिये विवाहोपयुक्त समय की आवश्यकता होती है। क्योंकि विवाहानन्तर स्त्री-पुरुषों की अनुकूलता रहने पर ही पुत्रादि की उत्पत्ति और विविध सुखों की प्राप्ति होती है। इनमें सर्वोत्तम ब्राह्म विवाह होता है, अत एव विवाह संस्कार के लिए उपयुक्त वर एवं उपयुक्त कन्या का चयन कर शुभलग्न में विवाह करना चाहिये। विवाह लग्न का प्रभाव दाम्पत्य जीवन पर पड़ता है—

''भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता,
शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः।
तस्माद्विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि,
तन्निघ्नतामुपगताः सुतशील धर्माः''[२४]।।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. बृहत्-सनातनधर्म-मार्तण्डः, प्रकाशक-श्रीमद्-दण्डिस्वामिसिद्धेश्वराश्रमः, प्रतापगढ़, षोडश-संस्कार-प्र., पृष्ठाङ्कः २७।
२. बृहत्-सनातनधर्म-मार्तण्डः, प्रकाशक-श्रीमद्-दण्डिस्वामिसिद्धेश्वराश्रमः, प्रतापगढ़, षोडश-सं.प्र., पृष्ठाङ्कः २७।
३. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-२६, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. ९९।
४. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-२७, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. ९९।
५. संस्कारविधिः, पृ.-१, प्रकाशक-आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६
६. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-२८, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. ९९।
७. बृहत्-सनातनधर्म-मार्तण्डः, प्रकाशक-श्रीमद्-दण्डिस्वामिसिद्धेश्वराश्रमः, प्रतापगढ़, षोडश-सं.प्र., पृष्ठाङ्कः २८।
८. मनुस्मृतिः तृतीयोऽध्यायः, श्लोक-४८, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. १५३।
९. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१५३, प्रकाशक-चौखम्बा

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
१०. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१५५, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
११. मुहूर्त्तमार्तण्डः, पृष्ठाङ्का-८, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
१२. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१५७, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
१३. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-३४, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. १०१।
१४. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१६०, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
१५. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१६१, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
१६. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-३५, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. १०१।
१७. मुहूर्त्तमार्तण्डः, पृष्ठाङ्का-१३, प्रकाशक-सावित्री ठाकुर प्रकाशन, वाराणसी।
१८. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-३६-३९ प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
१९. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-३६-३९ प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२०. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१७९, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
२१. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-६५ प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२२. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१९४, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
२३. मनुस्मृतिः द्वितीयोऽध्यायः, श्लोक-२१ प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२४. मुहूर्त्तचिन्तामणिः, पृष्ठाङ्का-१९६, प्रकाशक-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।



श्री शिवगोविन्द त्रिपाठी कृत-श्रीगॉन्धिगौरवम् महाकाव्यानुशीलन

संजय कुमार पाण्डेय
शिक्षक, हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

श्री गॉन्धिगौरवम् संक्षिप्त कथावस्तु

यह महाकाव्य आठ सर्गों में विभक्त है। पचास श्लोकों में निबद्ध प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने देवी सरस्वती और अपने गुरु श्री शम्भुरत्नजी (सुकुल) को नमस्कार किया है। बाद में काव्य का मूल स्रोत दिखलाते हुए कहा है कि—

आलोक्यात्मकथां शुभ्रा लिखितां गान्धिहस्ततः ।
अन्यच्चगान्धिसाहित्यं, लिख्यते गान्धिगौरवम् ।। (१.३)

श्री गान्धीजी के हाथ से लिखी "आत्मकथा तथा अन्य गाँधी साहित्य का अवलोकन कर श्री गॉन्धिगौरवम्" लिखा जा गया है। पश्चात् उनके जन्मवृत्तान्त को वर्णित किया है। (पृ. सं. ८-१२)

पिता करमचन्द ने १३ वर्ष की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा से कर दिया। (१.२०) कुल मित्र, जोशी के अनुरोध से माता मोहनदास को विदेश वकालत पढ़ने के लिये भेजती हैं। पर उससे पहले वह माताजी के समक्ष प्रतिज्ञा करते हैं कि—

मद्यन्न मांस नहि संस्पृशेयं, स्वब्रह्मचर्यञ्च दधामि नित्यम् ।। (१.३१)

विदेश में माँस से रक्षा करने के कठिन दो प्रासंग और ब्रह्मचर्यपालन में बाधा का एक प्रसंग कवि ने दिया है। सर्गानते बेरिस्टरी का प्रमाण-पत्र लेकर भारत वापस आते हैं। द्वितीय सर्ग के ८८ श्लोक में गाँधीजी लंदन से वापस बम्बई आये और पूर्व परिचित प्राणजीवन मेहता के घर रहे। वहाँ उनकी मुलाकात राजचन्द्र से होती है। गाँधीजी के जीवन में रश्किन कृत "सर्वोय" और टालस्टाय कृत "वैकुण्ठ तेरे हृदय में है" ये दोनों पुस्तके और कवि श्री रामचन्द्र इन तीनों उसके हृदय में स्थित हैं (२.१५)। करीम नामक मुसलमान गाँधीजी को अफ्रीका ले जाता है। वहाँ भारतीयों की रंगभेदोत्पन्न दुर्गति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसकी दशा सुधारने का प्रयत्न करते हैं। गिरमिट कर मुक्त का कार्य करते हैं, और वापस स्वदेश आते हैं। कलकत्ता बाद में प्रयाग वहाँ से राजकोट आए। हरि पत्रिका में अफ्रीका वृत्त छपवाकर बाँटा। बम्बई में जाकर नेटाल दुर्गति का समाचार सभा करके बताई। तत्पश्चात् पूना गए, वहाँ गोपालकृष्ण गोखले और तिलक से मिलकर भण्डारकर को सभापति बनाया। बम्बई में पत्नी और बच्चों को रख कर विदेश गए।

१०२ श्लोकों वाले चतुर्थ सर्ग में गाँधीजी बम्बई से डरबन आते हैं। ट्रान्सवाल में रहते थे, और जोहान्सबर्ग वकालत करते थे। इन्होंने "इण्डियन ओपीनियन" समाचार पत्र निकाला। अपनी पत्नी और बच्चें को जोहान्सबर्ग बुला देते है। नेटाल में जूलू लोगों के साथ युद्ध के बारे में सुना और जोहान्सबर्ग छोड़ दिया। कस्तूरबा को रक्तस्राव रोग होता है। परन्तु मांसपेय नहीं किया। कवि ने सत्याग्रह शब्द सुन्दर तरीके से समझाया है। ये फिनिक्स से

बच्चों, बुड्ढों और स्त्रियों को लाकर तमिल, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी और गुजराती भाषायें समझाकर पढ़ाते थे। दूध उद्दीपनकारी होता है, ऐसा सुना तो उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया। १९१५ में लन्दन से भारत आते हैं। गोखले से पूना मिलने जाते हैं। पूना से राजकोट आकर भाभी को विधवा देखा। बाद में शान्ति निकेतन चले जाते है। पत्नी के साथ हरिद्वार गए। वहाँ से लक्ष्मण झूला पैदल जाते हैं। कवि लिखते हैं, "आन्दोलन किं तत एव नीत्वा प्रचारयामास जनेषु गान्धि"। (४-१०२)

क्या गाँधी ने वहीं से (झूले की हिलावट से) आन्दोलन(हिलना और आन्दोलन) लेकर लोगों में प्रचारित किया?

१६३ श्लोकों वाले पंचम सर्ग में कवि ने सत्याग्रह के हेतु प्रस्तुत किए हैं। यह शब्द कैसे निष्पन्न हुआ, यह बताया है। काठियावाड़ में सत्याग्रहाश्रम की स्थापना, बाद में अहमदाबाद में चलाया। वहाँ उन्होंने अस्पृश्यता का निवारण किया। खेती का सुधार करने के लिये गाँधी बिहार के चम्पारण गये। वहाँ राजेन्द्र प्रासाद और ब्रजकिशोर के साथ उनकी मुलाकात हुई। काठियावाड़ आकर मजदूर के आन्दोलन में सेवा करके सेवनीय हो गए। "खेड़ा" सत्याग्रह किया। वल्लभाई पटेल वकालत छोड़कर गाँधी के सहायक हो गए। मुसलमान-हिन्दू को गाँधी जी परस्पर मिलाते रहते हैं। शान्ति सन्देश देते हुये वह कहते हैं—

जयो हास्यमदीयः सदा शान्तिमध्ये। (५.१३) शान्ति में सदा हमारी विजय है।

पंजाब में लाहौर हत्याकाण्ड के वक्त गाँधी जी कहते हैं—

वीर प्रसूतिः किल यत्र भूमौ
यत्रत्यवीरेश्चलिता चमूस्यात् ।
देशः स गौरेः एतंमित्थभागः
सेहे कथं तच्चकितोसित गाँधी।।

(५.१२२)

जिस भूमि में वीरों का जन्म होता है और वहाँ के वीरों से सेना चलती है, उस देश ने अंग्रेजों से किए गए इस प्रकार के अपराध को कैसे सह लिया? गाँधी जी चकित हुये।

मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, मुहम्मद अली जिन्ना का असंक्षिप्त चित्र खीचा है।

पृ. ६ श्लोक वाले षष्ठ सर्ग में गाँधी जी नमक सत्याग्रह के लिये दाण्डी गये। दाण्डी यात्रा का वर्णन, नर्मदा वर्णन, गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिये लंदन जाते हैं।

५८ श्लोकों वाले सप्तम सर्ग के प्रारम्भ में गोलमेज परिषद् में काँग्रेस का परिचय देते हैं। (७.१-४) गाँधीजी की निडरता का परिचय होता है। हरिजनों के हितैषी दिखाई देते हैं। हरिजनों का मन्दिर में प्रवेश, गाँधीजी द्वारा विविध विद्यापीठों की स्थापना और इसका हेतु और कस्तूरबा का देहावसान, वर्धा आश्रम में जाते हैं।

८० श्लोकों वाले अन्तिम अष्टम सर्ग में गाँधी जी ने सुना कि बंगाल में मुसलमान निरपराध हिन्दुओं को मार रहे हैं। इसलिए नावाखली गये। सबको समझाया—

एकां कमेटी मिलिता विरच्य-
प्रोवाच सर्वे वयमत्र जाताः ।
सकृद्भिः पानाशनतः प्रपुष्टाः-
चसेयुरेते कृतहार्दतुष्टाः ।। (८.८)

एक मिली जुली समिति बनाकर कहा कि हम सब यहाँ पैदा हुए है। एक भोजन एक जल से पुष्ट हुए हैं। अतः ये सब प्रेम पूर्वक संतुष्ट होकर रहें।

वहाँ की दशा का वर्णन किया है। बिहार प्रान्त में हिन्दुओं ने मुसलमानों को मारा। यह देख एक सभा में गाँधीजी ने कहा कि दुःख की बात है कि

जिस प्रकार नोवाखाली के मुसलमान दुष्ट थे उसी प्रकार यहाँ बहुत से हिन्दू दुष्ट हैं। जिन्होंने मुसलमानों को मारक उनका धन नष्ट कर दिया है। (८.२१)

चौदह अगस्त को महात्मा जी ने "जिन्ना" को पाकिस्तान देकर शुभ दिन पन्द्रह अगस्त को भारत में स्वराज्य की घोषणा की। (८.३४) पाकिस्तान में हिन्दुओं पर अत्याचार का वर्णन, तीस जनवरी सन् १९४८ ई. की शाम को नाथूराम गोडसे ने गाँधीजी की छाती में तीन गोलियाँ मार दी। (८.४८-५१) मृतक गाँधी जी का वर्णन (८.५३-५९) ईकतीसवीं जनवरी को रामदास ने उनका दाह संस्कार किया। यमुना और प्रयाग में अस्थि विसर्जन। वीर नारी मीरा ने गाँधी जी की भस्म को काशी, हरिद्वार, दाण्डी समुद्र, तमाम नद और नदी में प्रवाहित की। गाँधी अहिंसा और महात्मा का अर्थ दिया गया है।

इस कृति को कवि ने कब लिखना शुरू किया और कब पूर्ण किया इसका निर्देश करते हुये लिखते हैं—

> **सरलविबुधपवाण्यां श्रीगणेशः कृतो वै नवरसंसनि पुण्ये नेत्र आक्टुबरेद्य।**
> **नयनयनति फरवरी मासि पूर्ण खमुनि सनि कृतिः सा चाप्यतें शीतलायै ।। (८.७९)**

इस रचना को पवित्र दो अक्टूबर (गाँधी जन्मातिथि) सन् १९६९ को प्रारम्भ किया गया और आज २२ फरवरी (मातृ दिवस) सन् १९७० को पूर्ण हुई। यह भगवती शीतला देवी को समर्पित की जा रही है।

अन्त में शीर्षक की सार्थकता बताते हुये कवि ने लिखा है—

> **"महोत्सवे गॉन्धिशताब्दि-**
> **संज्ञिते समस्तदेशे जनहार्दमेधितम् ।**
> **प्रभावितस्तच्चरितेन मानसे**
> **व्यलेखिषं गौरवम् तथ्यवत्" । (८.८०)**

गाँधी—जन्म शताब्दी महोत्सव पर सारे देश में गाँधी जी के प्रति लोगों में प्रेम है। उनके चरित्र से मन में प्रभावित होकर मैंने उनका तथ्यपूर्ण गौरव लिखा है। अतः रचना का नाम "श्रीगॉन्धिगौरवम्" रखा है।

"श्रीगॉन्धिगौरवम्" में गाँधी जी का चरित्र चित्रण मनसि वचसि काये यस्य वार्ता सदैका स इह सकललाकैरुच्यते वै महात्मा ।। (८.७४)

मन, वचन, कर्म में जिसकी एक बात होती है, उसी को यहाँ सभी लोग महात्मा कहते है।

"श्रीगॉन्धिगौरवम्" महाकाव्य के आधार पर गाँधी जी का चरित्र चित्रण इस प्रकार है—

दृढ़ निश्चयी—सेठ अब्दुल्ला गाँधीजी को अंग्रेज की कचहरी में ले गए। गाँधी ने मस्तक पर पगड़ी बाँधी थी। वह पगड़ी उतारने के लिये रक्तिम दृष्टि से घूरेन लगा और हाथ घूँसे के इशारे करने लगा, फिर भी गाँधीजी ने सिर से पगड़ी नहीं उतारी। (२.३०-३१)

प्रिटोरिया में वेकार वकील गाँधीजी को गिर्जाघर ले जाता था। उसने गाँधीजी के गले में रही कण्ठी को तोड़ना चाहा लेकिन व्यर्थ। उपरोक्त दोनों परिस्थिति में गाँधीजी का दृढ़ निश्चय देख सकते हैं।

दृढ़ निश्चयी—प्रथम सर्ग के विदेश गमन करने से पहले गाँधीजी अपनी माता के समक्ष प्रतिज्ञा करते हैं कि—"मैं मद्य और मांसादि का स्पर्श नहीं करूँगा और नित्य अपने ब्रह्मचर्य को धारण करूँगा।" इस प्रतिज्ञा को कभी भंग नहीं किया।

निडर—लंदन में गोलमेज परिषद् में गाँधीजी ने निडरता से कहा—

> **"अस्यां सभायां नहि केपि**
> **सभ्या एतादृशा ये हितवादिनी मे।**
> **कृतिस्तु जाता किल गोलमञ्चे**
> **मिथ्या भवेदेव, विनिश्चयो मे"। (७.५)**

इस गोलमेज परिषद् में ऐसे कोई सदस्य नहीं हैं, जो हमारे हित की बात कहने वाले हों। अतः गोलमेज परिषद् में जो काम हुआ है वह झूठ होगा। यह मेरा निश्चय है।

अनरिग्रही नेटाल से वापस लौटते समय गाँधीजी को हिन्दू और मुसलमान अमूल्य वस्तुएँ देते हैं। तब गाँधीजी सोचते हैं—**''कार्ये किं तैरूतैर्मृया सेवकेन''**। (३.४०)

मुझ सेवक को इन सबसे क्या प्रयोजन? और कस्तूरबा से कहा कि—**''समर्प्य मया देशहेतोः समस्तम्''**। (३.४१)

मैं समस्त धन देश के लिये दे दूँगा। यहाँ गाँधीजी की अपरिग्रहशीलता दृष्टिगत होती है।

हिंसाद्वैषी—''कस्यापि जीवस्य कृते कदापि भवन्न मालिन्यमयं स्वचितम्। तामेव विधात्तु जगत्यहिंसा मेषा गृहितामुनिगान्धिन वै''॥ (८.६८)

किसी भी प्राणी के प्रति कभी अपने चित्त या मन को मालिन्य युक्त नहीं करना चाहिये। इसी को संसार में अहिंसा जानना चाहिये। महात्मा गाँधीजी ने उसे ही ग्रहण किया था।

कलकत्ता में काली मन्दिर में बलिदान देखकर गौतमबुद्ध को याद करते हैं। तभी कवि ने गाँधीजी को हिंसाद्वेषी कहा है। (३.६६)

शान्ति दूत—गाँधीजी ने मित्र महादेव देसाई को दिल्ली भेजा और कहाकि, तुम श्रद्धानन्द से कह दे—''शान्तिभङ्गे न भूयात्''। (५.९२) शान्तिभंग नहीं होनी चाहिये।

''त्वया तत्र गत्वा च जल्प्या जनास्ते
नृपाज्ञाविभङ्गे वयं दण्डनीयाः।
परं शान्तिहानिर्भवेन्नो कदाचित्
जयो ह्स्मदीयः सदा शान्तिमध्ये''।। (५.९३)

और वहाँ जाकर तुम उन लोगों से कहना कि राजाज्ञा भंग करने पर हम दण्डित होंगे, परन्तु कभी शान्ति भंग नहीं होनी चाहिये। शान्ति में सदा हमारी विजय है।

''सत्याग्रहस्य जननी खलु शान्तिरस्ति गान्धि च तस्य जनकोऽद्भुतसत्यवक्ता शान्तेरनादपरो मनुजः कदापि सत्याग्रहस्य करणे सफलो न भूयात्''।। (पृ. ९८)

सत्याग्रह की माँ है—शान्ति और उसके पिता हैं—सत्यवादी श्री गाँधी। शान्ति का अनादर करने वाला मनुष्य कभी सत्याग्रह करके सफल नहीं हो रहा है।

व्रती-

एकादशी पीतलो जलो वा
सदा च व्रतं रक्षित वैष्णवः सम्।
स श्रावणे शैवमतेनुरक्तः
सोमप्रदोषादि चकार कृत्यम्।। (४.७७)

हरिजनों के हितैषी—गोलमेज परिषद् में गाँधीजी ने कहा—

इमेन्त्यजा हिन्दुषु दुःखिता हि
तेषां प्रियोऽहं नहि कदापि शङ्का।
एशां पृथक्त्वं न कदापि भूयाद्
ऐक्यं हि कार्य पण एष नाऽन्यः।। (७.८)

अंग्रेजों के सूचना पत्र में शूद्रों के विषय में पढ़ा तो उनका हृदय पीपल के पत्तों की तरह काँपने लगा और उसने सोचा—

पादान् भारतवर्षस्य कृन्तति मम शत्रवः।
पादहीनो कथं गच्छेद्? भेदनीतेः फलन्तिपदम्।।
(७.१७)

और—

अछूत इति च नाम्ना यो हि जातो चतुर्थ्यो
स परिगणितलोको दुर्गतौ कष्टितौ वै।
हरिजन कृतनाम्ना प्रोच्यमानश्च तेन,
नृपनयविधिनासौ स्पर्शयोग्यः प्रचक्रे।। (७.७८)

एक सेवक—अंग्रेजों के साथ हुये बर्बरों के युद्ध में गाँधीजी ने घायलों को रक्षागृह में ले जाकर रक्षा की। रेडक्रॉस-शिक्षा—

परिशिक्षितैः स्वैरारोप्यः दोल्यां समराप्रखात् सः ।
प्राप्तसहायसंपन्नं, निनाय शरयुग्मसंख्यान् ।।

(३.३५)

हब्शियों के सम्पर्क से महामारी फैली तब उन्होंने हवादार मकान में रखकर कीटाणुओं के विनाश के लिये जहरीली दवा या जल का छिड़काव किया और वहाँ जाकर रोगियों को दवाएं दी। (४.२९)

"जुलू विद्रोह" में उनकी सेवा देखें—"सार्धैकमासं जनयूथसर्गौ स आहतान् रोगिगृहे समस्तान्। संस्थाप्य दोलीषु सुवाहितेषु सम्प्राप्यमास सुखेन गान्धि।। (४.५१) अपि च—"**शिक्षां प्रगृह्य समराय कृतावधानाम्, सेवां स तामकृजन्यहताहतानाम्**" ।। (४.८६)

सादगीपूर्ण—कवि लिखते हैं—"यत्साम्प्रतं तस्य गृहे दृश्यते, आडम्बरं क्वापि न दर्शनीयता। वस्त्रेषु सैत्यं ननु केशकर्तनम्। विधाय हस्तेन स याति पार्षदः"।। (३.३१)

शत्रु-मित्र समभाव—"रिपौ च मित्रो च समानभावनो, गुरुण्डलोकान् स्वगृहेह्वासयात्। डिकेति नाम्नी तु गुरुण्डबालिका, सुटकंयित्री च बभूव गान्धिः।। (४.३१)

शत्रु और मित्र में समान भाव रखने वाले गाँधीजी ने अंग्रेजों को अपने घर भी बसाया था। डिक नाम की एक अंग्रेज लड़की गाँधीजी की टाईपिस्ट थी।

शिक्षक रूप में—"**वाचिस्तरोयं बहुभिः सहायैः, प्रशिक्षयामास च बालबालाः। स तामिलीमाङ्गल-मुर्दूहिन्दी साम्ना स्वकियां गुजरातभाषाम्**"।। (४.७४)

अनेक सहायकों के साथ बैरिस्टर गाँधी जी अनेक लड़के-लड़कियों को तमिल, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी और गुजराती भाषाएं समझाकर पढ़ाते थे।

विविध विद्यापीठों के संस्थापक

'काश्यां' 'पाटलिपुत्र'-'पुण्यपुरयो' देशेऽह 'मदाबादके'
पीठानां तिथिमाचार विधिना गाँधी महात्मा स्वयम्।
तेषूदशमिमं बहूच्चविधिना चाञ्चल्यमाना भृशम्
अत्रच्छात्रगणः स्वदेशरचने दक्षा भवेयुः सदा।।

(७.३९)

महात्मा गाँधी ने स्वयं काशी, पटना, पूना और अहमदाबाद स्थानों में विधिपूर्वक विद्यापीठों की स्थापना की। उनमें उद्देश्य यह था कि वे अति उच्च विधि से चलाये जाएँ और यहाँ के छात्र अपने देश के निर्माण में दक्ष हों।

संस्कृत भाषा के प्रति प्रेम—"तस्यास्ति हार्दं सुरभातीषु पठ्यासुरैच्छत्प्रियाभारतीयाः।। (१.१८) देववाणी संस्कृत में उनका बड़ा प्रेम था, और वह यह चाहते थे कि भारतीय इसे पढ़ें।

"श्रीसंस्कृतं संस्कृतिपूर्ण भाषा, सा राष्ट्रभाषा भवताच्च तूर्णम् ।
प्रोढोप्यऽयं वै विविधैरुपायैः गीतां सुगीतां कृतवाच्छ्रमेणा।। (१.१९)

और वह यह भी चाहते थे कि भारतीय संस्कृति से परिपूर्ण संस्कृत भाषा शीघ्र राष्ट्रभाषा बने। उन्होंने प्रौढ़ावस्था में अनेक उपायों से बड़े परिश्रम से गीता का अध्ययन किया था। श्री गाँधी जी ने श्री एडविन अर्नाल्ड कृत गीता और बुद्ध चरित पढ़कर प्रभावित हुये। (२.१)

धर्मशास्त्र से नवनीत और उपनिषदों से आत्मबोध प्राप्त किया। (२.७०)

दीवाल पर श्लोकों को लिखकर दाँत माँजते-माँजते और स्नान करते-करते उन्हें पढ़ते हुए और याद किए हुए श्लोकों का पाठमात्र करते हुए गीता का अभ्यास कर लिया तथा वेदान्त के ज्ञानी बन गए। जिज्ञासु मण्डल चलाते हुए वह किसी को गीता

और किसी को ब्रह्मपुत्र इस प्रकार मुनियों का ज्ञान सुना-सुनाकर लगभग ज्ञानी बन गए। (४.२२, २३)

''श्रीगान्धिगौरवम्'' में प्रयुक्त वर्णन

गाँधीजन्म की प्रकृति पर असर—उस समय देव समूह ने उच्च ग्रहों के द्वारा बालक की दशा को देख-समझकर भेरी नाद किया। सभी दिशाओं में शीतल मंद सुगन्ध चलने लगी और आकाशस्थ मेघ धीरे-धीरे गरजने लगे। (१.१३)

गाँधी विवाह-दीक्षा का वर्णन—कवि लिखते हैं—

कस्तूरिबालां पुरतो विधाय, तदंसहस्तो भ्रमरीश्चकार।
अभुङ्क्तंसारमभोजयातां द्यूते जितो नूतनया च बध्वा।।
(१.२१)

तूफान में चलती स्टीमर का वर्णन—''हिलती पवनवेगात् स्टीमरस्तत्र मन्ये, ज्वरविषमनिमग्न कम्पयते कोऽपि जीवः। विहिलनगत एकाश्चाऽन्यादेहे पपात, विहितवदननार्याः स्पष्टरूपा बभूवुः''।। (३.२)

नर्मदा नदी का वर्णन—अग्रे ''भडौचाज्जनतासु नर्मदा, सा 'नर्म्मदा' स्वोच्चरङ्गपाणिभिः। मालिखित तं व्रातानि समाययौ, परगङ्गा नौरिमे तु यात्रिणः''। (६.८९)

बिहार प्रदेश का वर्णन—''अयं विहारौ जनकस्य राज्ञः, सतीह देहे विदितो विदेहः। अत्रापि हिंसा यदि जागृतास्ति, कुत्रापि तिष्ठेत् किमुशान्तिरार्याः''।। (८.३०)

काशीनगरी का वर्णन—''रण्डा-साण्डैः रिता या प्रतोल्योः, दुर्गन्धैस्ता दूषिता भिक्षुपुराः। अस्यां पुर्य्यामर्जका न्यूनसंख्याः, दृश्यते वै पेट-पूरा महान्तः''।। (३.६९)

हरिद्वार के कुम्भ मेला का वर्णन—''व्राह्मे मुहुर्ते बहुसाधुलोकाः, गजाधिरूढ़ाः शिविकाधिरूढ़ाः। स्नानाय पूर्वं कलहायमानाः, साधूतत्त्वमेतेहि कलकयन्ति''।। (४.९९)

कलकत्ता के काली मन्दिर का वर्णन—

''कलकत्ता'' पुटभेदने महति यद् बंग महाशाक्तकम्,
श्रीकालीभवनं हि तत्र बलये छागालुलायादयः।
नीयन्ते वधिकाश्च तत्र निरताः हस्ते कृपाणग्रहाः
दृष्ट्वा तामवलिञ्झरक्तसरितां गान्धि स मोहं गतः।।
(३.६५)

स्वदेश वापस आते ही गाँधी जी का वर्णन—''श्रीनन्दनं भूमिगन्दनं सः, विहाय मुम्बां पुनराजगाम। भ्राम्यन् खगोनन्तमुपैति नीडं, तथा विदेशान्निज-देशमायात्''।। (२.३)

अफ्रीका जाते समय गाँधी जी का वर्णन—''नवनवजनभूमिं द्रष्टुकामो मनस्वी, धृतनवविधवासा हस्तवेगे धनञ्च''।।

प्रथमगृहकृते—''सौ क्रीतपत्रश्च भूत्वा, स्थितिमकृत मनोज्ञंस्तीमरेनीरयाने''।। (२.२३)

दिवंगत गाँधीजी का वर्णन—''विडला भवने सः राजते, कुशपर्यङ्क उरः क्षतेर्वृतः। यमुनाजलसिक्त-खादिनावृत्तदेहो शुशुभे स चन्द्रवत्''।। (८.५३)

वायसराय लार्ड कर्जन की सभा में आये राजाओं का वर्णन—''कौयशाटकवृत्ता धुतनारिवेषाः, मुक्ताप्रवालमयहीरकहारधाराः। उष्णीषलम्बितचमत्कृत-मौलिमालाः, केयूरकङ्कणसुशोभितबाहुदेशाः''।। (३.६१)

मुसलमानों के अत्याचार का वर्णन—गाँधी जी ने सुना कि बंगाल में मुसलमान निरपराध हिन्दुओं को मार रहे हैं—''ततश्च हिंसाकृतिदक्षकूर्चिणः, करेषु कृत्वा करवालगोलिकाः। हताश्च विप्रा बहवश्च ठक्कुरा, हुतास्तु तेषां ललना नराधमैः''।। (८.४)

विविध पात्र वर्णन

फिरोजशाह का वर्णन—''बम्बय्यां सिंहदेश्यों हंविधृतमुकुटो बादशालो मनस्वी। यो सौ फीराजशाहो वचनपटुरयं भाषणे दत्तचित्तः''।। (२.८१)

मोतीलाल नेहरू का वर्णन—'जनजनविदितो, प्रवचनपटुरासीन मोलीलाल मनस्वी" (५.१२६)

लाल लाजपत राय और मोहम्मद अली जिन्ना का वर्णन—"प्रवचनपटु'लाज'युक्ता पतिः सः यवनहितसुरक्षा 'पाक'कारी च 'जिन्ना'॥ (५.१६०)

"श्रीगॉन्धिगौरवम्" में संवाद योजना—चतुर्थ सर्ग में कवि ने कस्तूरबा और गाँधी जी के बीच संवाद योजना इस प्रकार की है—

यासां विवाहो लिखितो न कोटे, भार्याश्च ताः सन्ति न तत्रृणाम्। अतस्तु तैः कामापि भारतीयां, निवर्तितो प्रेक्ष्य बभूव वार्ता"। (४.६६) "किञ्चित् ज्ञानं भवत्या?" "नहि वत् भगवन्" "नासि भार्या मदिया" केनोक्त त्वनुत नित्यं वदसि, नवनयं श्राव्यम् श्राव्यमेव। ब्रूते स्मदसौ, विवाहो यदि नहि लिलिखे कोर्ट मध्ये तु यस्याः। सा पत्नी नैव भूयाद् भवति, कुत इयं प्रापिता रक्षिता वा"॥ (४.६७), "क्रुद्धा पत्नी किंकिमत्थं गदति नहि पुरे यः शिरस्तस्य कृन्तेत्। कृन्तेद्रक्षेद् यथा स्यात् किमु, कंतिरधुना? नारिजात्यां विचार्यम्, नो जानेहं तु नारी कलहन्तु, नितरां मत्समाना सुवीश"॥ (४.६८)

"श्रीगान्धिगौरवम्" की भाषा शैली—कवि की भाष शुद्ध, सरलातिसरल, शब्दाम्बरशून्य, सहजसुबोध, रूचिरा, मनोहर, प्रसादगुण वाली है। यथा—

> **"कथयति जनवर्गो राजनीतौ न धर्म्मौ**
> **भ्रमपतितमनुष्या नैव जानन्ति धर्म्मम् ।**
> **जनजनहितलग्नं गान्धिनम्, तमहि**
> **सपति तस्यां सत्यपूजा चकर्ष"।।** (८.७१)

महाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय तद्भव शब्द

दीवान-धीमान
सरकार-सर्वकार
वकील-वाक्कील
कलक्टर-कलत्वंर
जहाज-जलाज
मूँगफली-मुद्गफली
बैरिस्टर-पूर्णवाचिस्तर
अफसर-अपसर
सिफारिस-शिप्राशिष
अस्पताल-अस्वस्थपालम्
स्टीमर-स्तीमर
बादशाह-बादशाल
स्टेशन-स्थेअशन
दफ्तर-दत्तरम्
अखबार-अक्षवार
नेपाल-नयपाल

कतिपय तत्सम शब्द

नर्स—नरिष् कोपरहित, रनेषति कुध्याति
वायसराय-वायतराज
लार्ड-लादः

कमेठी-कमिटि, समिति, सर्विस, सेवा

कवि ने अन्य भाषा के शब्दों को भी अपनी भाषा में स्वीकार कर लिया है। जैसे—हस्तवेग, एग्रीमेण्ट, कोर्ट, पार्टी, कमेटी, ओपिनियन।

कतिपय शब्दों को उक्तियों के द्वारा कवि का भाव प्रभुत्व प्रदर्शित होता है—

> **पूना-पुण्यैर्भृतां पूतजनां तु 'पूनाम्'**
> **गाँधी-गन्धस्य कार्य नितरा हि लग्नाः,**
> **गान्धी'ति संज्ञामलभन्तपूर्वे**
> **सत्याग्रह—पैस्सिव रेजिस्अेन्स'मिति,**
> **वाक्यमथेच्यत आङ्गलमध्ये।**

आन्दोलन-हिन्दोसहयोगं यः मदस्ताचवुच्यावनाः, केचित्खिलापदं प्राहस्तेन गौराः बहिष्कृताः।। (५.१५६)

कवि ने कृति में वर्तमानकाल का चित्र भी प्रदर्शित किया है—

गन्त्वापि तत्र युवकः स्वविहचर्चा, कुत्रापि

चैव विदधाति विवाहेतोः।। (१.३८)

मुकदमा लड़ने वाले अन्य व्यक्ति को वह कमीशन लज्जा से दे पाते थे। (२.२०)

लन्दन में छात्र मूल शास्त्र नहीं पढ़ते।। (१.४५)

तत्रापि गौरवमहा पठनस्य नास्ति।। (१.४६)

वरिष्ठ सहध्यायियों के साथ समय-समय पर समिति का चन्दा देकर और दावतों में सम्मिलित होकर वह समय व्यतीत करते हैं। (१.४६)

"श्रीगान्धिगौरवम्" की सूक्तियाँ

मेधाविभिर्विश्वमिदं न रिच्यते।। (२.११)

गुरोकस्तु लब्धिमर्हति दुरापा।। (२.१५)

वलीयसी केवलमीश्वरेच्छा।। (३८)

स्वन्तर्निनादः क्रियते सदा मया।। (२.५१)

सत्यवादी सदा सुखी। (२.६६)

रतावतृप्ता मनुजास्तु मूढ़ाः।। (३.२१)

हस्ते यष्टी भवति महिषी तस्या।। (४.९)

कस्मै द्वेषे रक्षणीयौ न चास्ति।। (४.१८)

सर्वस्य भद्रेषु भवेत्स्वभद्र।। (४.४६)

जयो हास्मदीयः सदा शान्तिमध्ये।। (५.९३)

जनेषु शान्तिः कठिना कलौ युगे।। (५.१०२)

शिक्षा तु येभ्यो हाभिरोचते सदा तभ्य प्रदेया।। (५.१०८)

खादी केषोदेशवीरस्य सत्यम्।। (६.१८)

देहं तृणं यो मनुते महात्मा

ब्रह्मवाक्यबोधो नहि भेदबोधः।। (९.२९)

दिव्यं चक्षूभोरते वेदरीतिः।। (७.५३)

पुनरुक्तियाँ—कवि ने कतिपय श्लोक की पुनरुक्ति की है। यथा—

आदौ स्मरामि गुरुपादरजांसि चित्ते,
स्थित्वा पुरः स्वकरकम्पिततप्तभागौ।
उष्णं विधाय बहुशीतसमृद्धिशीतम्,
व्यायेडिंग ध्रयुग्ममत्र हृदि स्वकीये।।
(१.१/५.१)

पैस्सिव रेजिस्टेन्स-मितींद,
वाक्यमथोच्यत आङ्ग्लमध्ये।
आस्त संदाग्रहम्पमिदं यत्
सोममयुक्तं यकार सहायम्।। (४.५८/५.३)

हस्ते गृहीत्वा सह सार्थिभिः स्वैः।
गान्धी विजिग्ये समरङ्गणे तान्।
अफ्रीकाराजः प्रबलाश्च वीरान्।। (४.५९/५.४)

सत्याग्रहेण मान्योऽयम्, दुःखवाधिपातिसान्।
भारतीयन् समुद्धृत्य, यशसाश्वेतयद् दिशः।।
(४.७१/५.५)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. श्रीगान्धिगौरवम्–सम्पादक डॉ. शिवसागर त्रिपाठी, यूनिक ट्रेडर्स, २५०-चौड़ा रास्ता जयपुर (राजस्थान) २००१।
२. अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय के नक्षत्र-डॉ. दीप्ति कमल, राज पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, प्रथम संस्करण २००१।
३. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास–डॉ. श्रीधर भाष्कर वर्णे, अनुवादक-अनंतराय जे. रावल अने विजया येसले, ले-प्राच्य विद्यामन्दिर, वडोदरा, १९९२।



सूफी काव्य परिचय एवं वैशिष्ट्य मीमांसा

रामानुज द्विवेदी
सहायक प्रोफेसर (आधुनिक विषय)
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर

भारत में सूफी मत का आरम्भ ख्वाजा मोईउद्दीन चिस्ती के समय १२वीं शताब्दी से माना जाता है। उसके बाद १५वीं शताब्दी तक कई और सूफी सम्प्रदाय स्थापित हुए, सूफी मत के कवियों ने लोक प्रचलित कथानक लेकर अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की। उनकी कथाएं आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में रहती थीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, ''इस काल के भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होंने प्रेम गाथाओं के रूप में उस प्रेम तत्व का वर्णन किया है, जो ईश्वर को मिलाने वाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है।'' अन्य इतिहास ग्रन्थों में इसके प्रेम-काव्य, प्रेम-कथानक, प्रेमाख्यान काव्य, प्रेममार्गी सूफी, प्रोममार्गी भक्ति शाखा और सूफी प्रेमकाव्य आदि मिलते हैं। उक्त शीर्षकों से स्पष्ट है कि सभी इतिहास लेखकों ने प्रेम तत्त्व को ध्यान में रखकर नामकरण किया है। वस्तुतः प्रेम-चित्रण इस परम्परा की मुख्य विशेषता था—वह चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, जहाँ संतों ने ईश्वर को ज्ञान एवं प्रेमसाध्य बताया वहीं सूफी कवियों ने परमात्मा और आत्मा का मिलन केवल प्रेम द्वारा ही सम्भव कहा। सूफियों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को मनोवैज्ञानिक ढंग से भावात्मक ऐक्य के लिए प्रेरित किया। संत मत के सिद्धान्तों का ताना-बाना तो शुद्ध भारतीय धरातल पर बुना गया था, परन्तु सूफी सिद्धान्तों का ढाँचा विदेशी भूमि पर तैयार हुआ था, किन्तु सूफी यह पर भी भारत के वेदान्त दर्शन का प्रभाव अवश्य है। सूफी मत फारस (ईरान), अरब (मक्का-मदीना) तथा यूनान (सोफिस्टमत) आदि कई देशों से होता हुआ भारत में प्रविष्ट हुआ और विदेशी होते हुए भी सफलता प्राप्त की[१]।

सूफी शब्द की उत्पत्ति एवं रचना के विषय में कुछ विद्वानों का मत निम्न प्रकार है—सूफी शब्द की उत्पत्ति 'सफ' शब्द (पंक्ति) से हुई है। उसके अनुसार पहली पंक्ति में खड़े होने वाले ऐसे व्यक्तियों को सूफी कहा गया, जो उल्लाह की इबादत (पूजा) में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि, मुसलमानों के तीर्थ-स्थान मक्का-मदीना की मस्जिदों के सामने बने हुए सूफ्फा (चबूतरा) पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि, सूफी शब्द सोफिया का रूपान्तर है और सोफिया का अर्थ ज्ञानी पुरुष होता है।

हिन्दी सूफी काव्य रचना का प्रारम्भ कबसे हुआ? इसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मृगावती' (१५०१) के रचयिता कुतुबन को इस परम्परा का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' (१५००) को इस परम्पा की प्रथम कृति के रूप में उल्लिखित किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने मल्ला दाऊद के 'चन्दायन' (१३७९) से इस परम्परा का प्रवर्तन माना है। डॉ. नगेन्द्र ने असाइत के 'हंसावली' (१३७० ई.) को इस परम्परा

की प्रथम कृति स्वीकार किया है। प्राय: हिन्दी सूफी काव्य-परम्परा खोजते समय जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत किया जाता है—

विक्रम धँसा पेम के बारा।
सपनावति कहँ गयउँ पतारा।।
सुदैवच्छ मुगधावति लागी।
कंकनपुरि होइगा वैरागी।।
साधा कुँपर मनोहर जोग।
मधु मालति कहँ कीन्ह वियोग।।
प्रेमावति कहँ सरसुर साधा।
उखा लागि अनुरूध वर माँगा।।

इस उद्धरण में सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती आदि प्रेम-कथाओं के उल्लेख हैं। इनमें से 'मृगावती' (कुतुबन) और 'मधुमालती' (मंझन) प्रकाशित हैं, किन्तु मंझन की 'मधुमालती' पद्मावत के बाद की रचना मानी जाती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी ने किसी दूसरे कवि की 'मधुमालती' का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त दामो कृत 'लक्ष्मण-सेना-पद्मावती' नामक ग्रन्थ भी मिलता है जो १४५९ की रचना है[२]।

हिन्दी सूफी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

हिन्दू और इस्लामी संस्कृतियों का प्रेम-पूर्ण सम्मिलित रूप ही प्रेम-काव्य की अभिव्यक्ति है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफी सिद्धान्तों के निरूपण में मुसलमान साहित्यकारों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम-काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फलस्वरूप जिस प्रकार संत-काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही, उसी प्रकार प्रेम-काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दृष्टिगोचर होती रही। सूफी प्रेमकाव्यों की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित रूप में देखी जा सकती है—

(१) प्रबन्धात्मकता

सूफियों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इन कवियों ने जिस प्रबन्धात्मकता को अपनाया है वह भारतीय महाकाव्य तथा फारसी 'मसनवी शैली' का मिश्रित रूप है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मसनवी को अन्योक्ति काव्य की संज्ञा दी है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यान एक ही प्रकार के साँचे में ढले हुए लगते हैं, क्योंकि सभी का लक्ष्य प्रेम तत्त्व का निरूपण करना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है, "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्राय: उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है, जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे—चित्र-दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक्र-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।" द्विवेदी जी ने सूफी-काव्य में व्यवहृत कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है, जैसे प्रेम-व्यापार में परियों और देवी का सहयोग आदि।

(२) पात्र योजना

सूफी कवियों ने अपने प्रेम काव्यों में जिन पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया है, वे सभी सामन्ती ढाँचें में ढले हुए ऐसे नायक और नायिकाएँ हैं, जिनमें जीवन का समग्र चित्रण नहीं हुआ, केवल प्रेम के विविध प्रसंगों का ही चित्रण हुआ है। ऐतिहासिक पात्रों के साथ काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि की गई है। डॉ. रामकुमार वर्मा का मत है, "प्रेम-काव्य की समस्त कथाएँ हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है, जिनमें स्थान-स्थान पर हिन्दू देवी और देवताओं के लिए सम्मान की शब्दावलियाँ प्रयुक्त हैं।" सूफी काव्यों के नायक संस्कृत-साहित्य

के सामन्ती वातावरण की उपज लगते हैं। अधिकांश नायक राजा या राजकुमार दिये गये हैं और नायिकाएँ रानियाँ अथवा राजकुमारियाँ दिखायी गई हैं। काल्पनिक पात्रों का देवताओं अथवा नबियों जैसा चरित्र-चित्रण हुआ है।

(३) लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति

सूफी प्रेम-काव्यों में हिन्दू लोक-संस्कृति की वैयक्तिकता एवं सामाजिकता का चित्रण हुआ है। हिन्दू लोक-संस्कृति में व्याप्त अन्धविश्वास, जादू-टोना, मन्नत, मनौतियाँ, तीर्थ, व्रत आदि का चित्रण हुआ है। लोकोत्सव, लोक-व्यवहार, लोकाचार तथा लोकनाथ द्वारा हिन्दू लोक-संस्कृति में चली आ रही परम्परागत प्रेम कहानियों की पृष्ठभूमि फारसी की मसनवी शैली तथा इस्लाम धर्म की मान्यताओं को समन्वित करके प्रस्तुत किया है। प्रेमकाव्यों में षट् ऋतुओं का वर्णन और बारहमासा आदि का वर्णन भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार हुआ है।

(४) मण्डलनात्मक मनोवैज्ञानिक पद्धति

सूफियों ने ज्ञानमार्गी संतों की भाँति धर्म या जाति का खण्डन नहीं किया, बल्कि मनोवैज्ञानिक आधार पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को प्रेममार्ग में एक समान बताया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"

(५) प्रेम पद्धति

सूफियों में मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने फारस की शैली के अनुसार नायक को प्रेम में विह्वल तथा प्रेम-पात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नी रूपी आत्मा को पुरुष रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। सूफी कवियों ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखलाया। जायसी ने अपने 'पद्मावत' में पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति-प्रेम आदि का चित्रण कर अपने भारतीय होने का पूरा परिय दिया है।

(६) नारी-चित्रण

सूफियों ने प्रेम द्वारा प्राप्त की जाने वाली सुन्दरी नारी को परमात्मा का प्रतीक माना है। प्रेम का प्रमुख पात्र नारी ही वह नूर है जिसके बिना सम्पूर्ण संसार अंधकारमय है। इन कवियों ने नारी को साध्य तथा प्रेम को साधन माना है। नारी का सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य की प्रतिच्छा है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है, "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम-साधना के साध्य के रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन-सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह इन साधनों की दृष्टि में एक सिद्धि बनकर आती हैं और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है।"

(७) रस

प्रेम-काव्य में प्रधान रस शृंगार है। प्रेम-काव्य में जहाँ सूफीमत का प्राधान्य है, वहाँ वियोग शृंगार का आधिक्य है, क्योंकि साधक का विरह ईश्वर से

बहुत दिनों तक रहता है। अन्त में अनेक प्रकार की कठिनाईयों को पार कर संयोग की अवस्था आती है। इसलिए वियोग का अनुभव यथेष्ट समय तक रहता है। यह वियोग प्रेम-काव्य में प्रायः किसी राजकुमारी के सौन्दर्य की कहानी सुनकर अथवा चित्र देखकर जागृत हुआ करता है। 'चित्रावली' में राजकुमार सुजान चित्रावली की चित्रसारिणी में उसका चित्र देखकर वियोग में दुःखी होता है। नागमती का विलास प्रवास के दृष्टिकोण में वियोग शृँगार का अच्छा उदाहरण है। शृँगार के अतिरिक्त अन्य सभी रस कथावस्तु की मनोरंजकता बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। हास्य रस और रौद्र रस का प्रायः अभाव है। सम्भव है, प्रेमकाव्य में इनकी आवश्यकता न मानी गई हो। प्रेम-काव्य के वियोग शृंगार में कहीं-कहीं वीभत्स चित्रावली के भी दर्शन हो जाते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि मसनवी की प्रेम-पद्धति में विरह-वर्णन कोमल न होकर भीषण हुआ करता है। मांस और रक्त का वर्णन तो विरह-वर्णन में अवश्य ही रहता है। डॉ. राजकुमार वर्मा ने लिखा है, "हिन्दू दृष्टिकोण में शृंगार रस के स्थायी भाव में मांस और रक्त की भावना का सामञ्जस्य हो ही नहीं सकता। अतः शास्त्रीय दृष्टिकोण में प्रेम-काव्य में रस-दोष आ जाता है।"[३]

(८) धार्मिक सहिष्णुता

धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफीमत में बहुत साम्य है। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी साहब सूफीमत को वेदान्त से प्रभावित मानते हैं। उनका मत है, "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा।" इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों ने प्रेमकाव्य की रूप-रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान कवियों द्वारा लिखी गयी हैं, उनमें धार्मिक संकेत अवश्य हैं, पर जो प्रेम-कथाएँ हिन्दू साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी हैं, उनमें काव्यत्व और घटना-वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम-कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गयी प्रेम-कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया है[४]।

(९) काव्य-रूप

सूफियों की प्रेममूलक रचनाएँ साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की कोटि में आती हैं, किन्तु इनमें भारतीय महाकाव्यों जैसी सर्गबद्धता नहीं, बल्कि कुछ शीर्षकों का प्रयोग किया गा है। मसनवी पद्धति के आधार पर कथा आरम्भ के पूर्व ईश्वर वन्दना, स्मृति मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा तथा आत्म परिचय आदि दिया जाता है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है, जिसमें किसी प्रबन्ध काव्य के प्रायः सभी तत्त्व वर्तमान हैं, किन्तु जिसमें इसके साथ ही कथा-आख्यायिका, जैन चरित्र काव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है"।

(१०) प्रतीक विधान

सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ शब्दों को साङ्केतिक रूप में प्रयुक्त किया है, जिन्हें 'प्रतीक विधान' के अनुसार विशिष्ट सन्दर्भ में विशेष अर्थ के लिए प्रयोग किया है। जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' में निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं।

तन चितउर मन राउर कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि-पद्मिनि चीन्हा।।

इसका तात्पर्य है कि शरीर तो चित्तौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंहल द्वीप है और बुद्धि पद्मिनी है। उसमान ने 'चित्रवाली' में नायक-नायिका तथा वस्तुओं और स्थलों के नाम साङ्केतिक दिये हैं, जैसे—उनके कथा के नायक का नाम सुजान हैं। नायिका के

निवास-स्थान का नाम रूपनगर है। स्थलों एवं पहाड़ों के नाम कवि ने क्रमशः भोगपुर, गोरखपुर तथा नेहनगर दिये हैं। इसी प्रकार का प्रतीक-विधान अन्य प्रेमकाव्यों में भी मिलता है।[५]

(११) भाषा

प्रेम-काव्य की भाषा अवधी है। जो अवधी इस प्रेम-काव्य में प्रयुक्त हुई है, वह अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। वह ग्रामीण जन-सामान्य की बोली के रूप में है। उसमें संस्कृत के कठिन समास या दुरूह शब्दावलियाँ नहीं है। तुलसीदास ने अवधी को संस्कृतमय कर अपने शब्द-भण्डार का अपरिमित परिचय दिया है परन्तु प्रेम-काव्य के कवियों ने भाषा का यथातथ्य स्वरूप कविता में सुरक्षित रखा। जायसी ने लिखा है—

काल आय दिखालाई साँटी।
तब जिउ चला छौंड़ि कै माटी।।

उसमान और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव परिलक्षित है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है।

(१२) अलंकार

सूफियों ने भाषा को अधिक सम्प्रेषणीय बनाने के लिए स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग किया है, जिसमें उपमा तथा उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अनुप्रास एवं अतिशयोक्ति का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। समासोक्ति तथा अन्योक्ति भी सूफियों के प्रिय अलंकार हैं। इन कवियों के हृदय में भावना एवं अनुभूति का स्रोत था, अतः इनकी अलंकार-योजना में भावप्रवणता अधिक है, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कम।

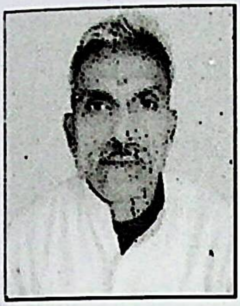
(१३) छन्द

इस प्रेम-काव्य की समस्त परम्परा में दोहा और चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। अवधी भाषा के साहचर्य से दोहा और चौपाई छन्द इतने सफल हुए जितने वे ब्रजभाषा से नहीं। 'मधुमती' और 'मृगावती' में चौपाई की पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। जायसी ने पाँच के बदले सात पंक्तियाँ अपने 'पद्मावत' में रक्खी। अनेक कवियों ने दोहा एवं चौपाई के अतिरिक्त सोरठा, बरवै, सवैया, कुण्डलियाँ, झूलन आदि का प्रयोग किया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि हिन्दी की यह एक ऐसी काव्य-परम्परा है, जिसका प्राकृत, संस्कृत और अप्रभंश कथा-काव्य परम्परा से सीधा सम्बन्ध है, जिसमें भारतीय साहित्य-परम्परा की विभिन्न कथानक-रूढ़ियों एवं काव्य प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। धर्माश्रय एवं राजाश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परम्परा है जिसने तत्कालीन जनता की काव्य-रुचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमाञ्चक आख्यानों द्वारा तुष्ट किया।

पाद टिप्पणी

१. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, पृ. सं. ६५।
२. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, पृ. सं. ६७।
३. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, पृ. सं. ६७।
४. मौलाना सैयद सुलेमान नदवी; अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ. सं. १३४
५. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, पृ. सं. ७१।



शैवागम दर्शन में शिव

डॉ० दयाशंकर मिश्र
आगम विभागाध्यक्ष, श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय,
हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

शिव न केवल भारतवर्ष की समग्रभूमि में अविच्छिन्न परम्परा से अद्यावधि प्रतिष्ठित हैं अपितु विश्व के अन्य देशों नेपाल, श्रीलंका, वर्मा, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा, माली आदि तथा द्वीपों में भी प्रतिष्ठित हैं।

आधुनिक इतिहासकार भी अनेक साक्ष्यों के आधार पर भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक काल में हड़प्पा-मोहन जोदड़ो की संस्कृतियों में भी शिव की व्यापकता एवं प्रतिष्ठा को एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

संक्षेप में यह तथ्य आज भी हमारे सम्मुख सदा सत्य है कि शिव की महिमामयी सत्ता वेदों से लेकर गाँवों, नगरों, उपनगरों, नदियों के तटों आदि सभी जगह किसी न किसी रूप में लोकमंगलकारी शिव भव्य मन्दिरों, घरों, चौराहों और वृक्षच्छाया के चबूतरों पर प्रतिष्ठित है। लिङ्ग अथवा मूर्ति के रूप में उनकी प्रतिष्ठा समस्त भोग और मोक्षक के साधक की गरिमामयी दृष्टि से देखी जाती है। भारतवर्ष की ग्रामीण संस्कृति में एक भी गाँव ऐसा नहीं मिलेगा, जहाँ शिव अथवा शक्ति (दुर्गा) की मूर्ति-पिण्ड आदि का अभाव हो। इससे अतीत से वर्तमान तक भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता, जीवतता, समरस्ता और कल्याण कामना अपनी एवं दूसरे की भी प्रमाणित है। शिवशक्ति हमारे जीवन दर्शन की स्पन्दन के रूप में समाहित एवं समादृत हैं।

शैव-शाक्त दर्शनों में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, अविधा, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्) पञ्चतन्त्रमात्राये (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द) पञ्चमहाभूत (पृथ्वी = जल - अग्नि-वायु-आकाश-कुल छत्तीस तत्व बताये गये है। इन तत्वों में शिव भट्टारक अथवा परमशिव एक तत्व और मिला देन से सभी तत्वों के ऊपर एक तत्व और हो जोन से कुछ आचार्य शैवशाक्त दर्शनों में सैंतीस तत्व स्वीकार करते हें। इस प्रकार तत्वों के आरोह-अवरोह क्रम से निरन्तर चिन्तन-मनन करने से साधक के अन्दर शिवताभाव की उत्पत्ति होती है और अन्त में संकुचित जीव परम व्यापक शिव हो जाता है। यही रहस्य शैव शाक्त दर्शन वाङ्मय में अत्यन्त समारोह के साथ प्रस्थापित है।

शैव शाक्त दर्शनकरों में अनन्त संसार के सृष्टि और संहार के रहस्य को समझाने के लिए उपयुक्त छत्तीस तत्वों को चार खण्डों में विभक्त किया है जैसे—१. शाक्ताण्ड २. मायाण्ड ३. प्राकृताण्ड ४. पार्थिवाण्ड इन चारों खण्डों के साधना क्रम में पार्थिवाण्ड में १६ (सोलह) तत्व सन्निविष्ट हैं जिनमें पृथ्वी सहित पञ्चमहाभूत, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और संकल्पात्मक-विकल्पात्मक मन है। यह नाशवान है। अतः यह पार्थिवाण्ड नाम से सम्बोधित होता है दूसरों खण्ड-प्राकृताण्ड नाम से कहा गया है। इनमें पञ्चतन्मात्रायें - अहंकार, बुद्धि और प्रकृति इन आठ तत्वों का सन्निवेश किया गया है। पुरुष नियति काल राग अविद्या कला और माया इन सात तत्वों का मायादण्ड है यह क्रमशः स्थूल से

सूक्ष्म क्रम है। शुद्ध विद्या ईश्वर सदाशिव शक्ति और शिव इन पांच तत्वों के समूह को शाक्ताण्ड अथवा शिवाण्ड कहा गया है। इसमें शिवशक्ति का सामरस्य या अविनाभाव है, एक के बिना एक के अभाव में कोई भी सृष्टि-संहार संभव नहीं है। शिवशक्ति के ऐक्य-भाव को ही सामरस्य, मैथुनीभाव, अर्धनारीश्वर आदि संकेतों से व्यक्त किया गया है। महाकवि कालिदास के शब्दों में वाक्? शक्तिः अर्थ, शिव, तत्व, ही "वागर्था विव", "पार्वतीपरमेश्वरौ:", "पितरौ" है और यहीं शब्दान्तर से वैन्दवी-सृष्टि की परिकल्पना की गई है। दोनों के समानान्तर सामरस्य से बिन्दुतत्व और बिन्दुतत्व की उच्छूनावस्था नादतत्त्व है। इन्हीं के आगे बीज की उत्पत्ति संभव है। अत: बिन्दु मात्र ८ चिंदंश ८ ज्ञान ८ है। नाद बीज और बिन्दु के मध्य का लोलीभाव है अत: अर्थ सत्य है। चिद् - चिद् मिश्रित भाव हैं। बीज ८ स्थूल ८ सृष्टि है। जो शब्दार्थ युगलबोधक शब्द है। आगे इसी के व्यवहार से ज्ञानमूलक शब्दराशि और अर्थमूलक जगत् प्रपञ्च की उत्पत्ति होती रहती है। इसी प्रपञ्च के अन्तर्गत पंचमुखशिव ८ तत्पुरुष-ईशान-अघोर-सद्योजात- और वामदेव ८ पञ्चकृत्यकारी ८ सृष्टि-स्थिति -संहार-निग्रह-अनुग्रह ८ का कारण होता है। वह अनुग्रहशक्ति से मण्डित होकर अनन्त कोटि - विश्व ब्रह्माण्ड का नायक, अनेकों सौरमण्डलों का उत्पादक, नि:सीम इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियों का अधिष्ठान, अनन्त ब्रह्म-विष्णु-महेश का सर्जक और अपने स्पन्दनशक्ति से सदा सम्बन्धित होता है।

नि:सीम सत्ता वाला स्वतन्त्रशक्तियुक्त शिव सात प्रमाता रूपों में शैवदर्शन में विभक्त हैं जैसे। शिव २ मन्त्रमहेश्वर ३ मन्त्रेश्वर ४ मन्त्र ५ विज्ञानाकल ६ प्रलयाकल और ७ सकल शिव शक्ति युगलतत्व शिव प्रमाता सदा शिव तत्व, मन्त्र महेश्वर, ईश्वरत्व मन्त्रेश्वर और शुद्ध विद्या मन्त्र नाम से कहे गये है। इन सप्तप्रमाताओं में ईश्वर अथवा महेश्वर ही समग्र व्यवहार का कारण होता है, सदाशिव-शक्ति-शिव तो क्रमशः अत्यन्त सूक्ष्म भावैकगम्य तत्व है शुद्धविद्या मूल मन्त्रतत्व है ही। सप्त प्रमाताओं में शिव परम सम्राट की भांति तथा शैव शक्ति-सदा शिव ईश्वर शिव के मुख्य प्रधानाधिकारियों की भांति स्थित है। यह सर्वथा चिदंश शुद्ध सृष्टि, अविकारी हैं शेष विज्ञानाक्ल प्रलयाकल और सकल नामक प्रमाता अशुद्ध अथवा नाशवान् है जिसमें माया से लेकर प्रकृति के पूर्व तक विज्ञानाकल प्रकृति से लेकर पञ्चतन्त्रमात्र तक प्रलयाकल और पञ्चमहाभूतों का प्रमाता सकल नाम से अभिहित किया गया है यह सभी प्रमाता शिव प्रमाता के आधीन प्रतिनिधि रूप में अपनी-अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित हैं। यह प्रमाता क्रमशः आणव मायीय और कार्म्यमल के अपनोद से शिवतत्व प्राप्ति के अधिकारी होते है।

शैव दर्शन में "शिवोऽहं" की भावना से जीव ही मलों के परित्याग से शिवतत्व को प्राप्त होता है। अनादि अनन्त शिव तत्तद् वृत्तियों के संकोच स्वरूप जीव नामधारी हो जाता है और नि:सीम सत्ता क्रमशः स्थूल वृत्तियाँ ग्रहण करते हुए जीव बन जाता है। उसका सर्वज्ञा तृत्व सर्वकर्तृत्व तिरोहित होकर किञ्चिद ज्ञातृत्व किञ्चिद् कर्तृत्व में परिणत होता है इसी रहस्य को शैव दर्शन अपनी प्रतिपादन शैली में ज्ञात करता है और जीव को बोध-कराकर परम कल्याण का भाजन बनता है और शिवतत्व की प्राप्ति गुरु कृपा, ज्ञान, भक्ति साधना साधना आदि उपायों से होती है।

ज्ञान और शिव–शिव ज्ञान के महान् अधिष्ठान है। व्यवहार में भी स्मृतियाँ कहती है कि ज्ञान की इच्छा रखने वाले को भगवान् शिव का शरण ग्रहण करना चाहिए—"ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरांत्[१]" इससे यह सिद्ध है कि शिवाराधन मनन चिन्तन के बिना ज्ञानोदय असम्भव हैं इस प्रकार अभिषेकप्रिय परमअन्त शिव साधक के लिए आशुतोष—सर्वमंगलदाता होकर भोग और मोक्ष दोनों को ही साथ प्रस्तुत कर देते हैं शास्त्रों के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में कहा गया

है कि जहाँ मोक्ष की बात आती है वहाँ भोग शिथिल हो जाता है और जहाँ मात्र काम और अर्थ (भोग) की ही चर्चा (भौतिकशास्त्र) आती है अथवा उपाय निर्दिष्ट है वहाँ मोक्ष गौण हो जाता है किन्तु शिव चरणों के अनुयायियों को भोग और मोक्ष एक ही साथ उपलब्ध रहते है। अर्थात् कामनाओं के संसार में रहते हुए मोक्ष भी साध्य है जैसे—

यत्राऽस्ति भोगो न हि तत्र मोक्षः यत्राऽस्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः शम्भोः पादाम्बुजयुगार्चकानां योगश्च भोगश्च करस्थ एव।। (शाक्तानन्दतरङ्गिणी।।)

आध्यात्मिक विद्या के समस्त शास्त्र परमात्मा के सत चिद् आनन्दरूप को स्वीकार करते हैं, इसमें चिद्रूप ही सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि चिद् (ज्ञान) सत् भी है और आनन्द रूप भी है वही सत्यं शिवं सुन्दरम् भी है। वही आगम नाम से उपदिष्ट है स्वच्छन्द तन्त्र में आगम "शैवदर्शन" को ही ज्ञान स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अनन्तशास्त्रों की श्रेणियाँ ही आगम है और इन्हीं के ज्ञान से पुरुषार्थ चतुष्ट्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि होती है "आगमो ज्ञानभित्युक्तह्यनन्ताः शास्त्रकोटयः"। । स्व. ४/३४।। समस्त तत्व जहाँ जाकर समाहित हो जाय वही आगम है शिव है कल्याण है और है श्रेय एवं प्रेम भी।

शिव ही जगद्गुरु हैं। अज्ञान का निगरण (नाश) करने से वह गुरु कहलाते हैं। गुरु शब्द से गकार गणेश परक होकर सिद्धिदायक है रकार अग्नि स्वरूप पाप (अज्ञान) का नाशक हैं और ग और र में उभयनिष्ट ऊकार साक्षात् शिव है जो "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की भौतिक अन्धकार अज्ञान-अमंगल आदि की ओर से निवारित कर जीव को - शिव के सम्मुख ले जाता हैं गुरु शब्द में सबसे महत्त्वपूर्ण उकार है जो चिद्रूप की भाँति सिद्धि और अज्ञाननाश का कारण बनता है वह समस्त ज्ञान विज्ञान - परा अपरा कला-कौशल इच्छा-ज्ञान क्रिया प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का सर्जक और पोषक है उसकी शरण जाने से यह सभी एक साथ प्राप्त हो जाते हैं शिव ही गुरु-परगुरु परापर गुरु भाव से साधक की जिज्ञासा एवं कामना की सिद्धि कृपा एवं अज्ञाननाश के द्वारा करता रहता है वह परस्पर समस्त विरोधी धर्मों को समन्वित कर समरसता का उत्पादक और कल्याणकारी है। वह शिव सूत्रों "अ इ उ ण्" आदि का उद्भावक अक्षर रूप है। वह अ से ह, अ से क्ष सभी वर्णों (अक्षरों) का उत्पादक है उसका डम् डम् करता डमरू समस्त वर्ण समाम्नाय अक्षर राशि का हमारे कल्याण के लिए उपदेशक है। वह शिव रूप से प्रकाश और शक्ति रूप से विमर्श काल और कला दोनों रूपों में ही एक ही साथ हमारे सम्मुख है। वह मृत्यु और मृत्युञ्जय एक ही साथ है और विष और अमृत दोनों को अपने शिर पर धारण किये हुए है। निरन्तर बहने वाली ज्ञान अमृतसलिला गंगा इस भावनाओं की संवाहिका है वह और उसकी अविभावरूपिणी शक्ति अहन्ता (शिव) इदन्ता (संसार) का एक साथ सामरस्य सूचक शब्द और अर्थभाव से गुप्त रहकर सनक सनन्दनादि ऋषियों के उद्धार एवं समस्त देवताओं के कल्याण के लिए सतत् उद्यत है। कहा भी गया है कि शिव सूत्र अथवा माहेश्वर सूत्र ऋषियों का ज्ञान के द्वारा कल्याण करने हेतु उत्पन्न हुए है इति शिवम्।

टिप्पणी

१. शैव दर्शन (सारस्वती सुषमा)
२. शाक्तानन्दतरङ्गिणी - डॉ. राजनाथ त्रिपाठी।
रघुवंशमहाकाव्य - प्रथम सर्ग - प्रथम श्लोक "महाकविकालिदास"।
३. तत्व प्रकाश।
४. शक्तानन्दतरङ्गिणी - डॉ. राजनाथ त्रिपाठी।
५. शिवदृष्टि।
६. नन्दिकेश्वर कारिका शिवसूत्रम्।



निराला के काव्य में शिल्प साधना

मोहन पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर (आधुनिक विषय)
कोआर्डिनेटर (आई क्यू एसी)
निदेशक, गाँधी अध्ययन केन्द्र,
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय हाटा, कुशीनगर (उ.प्र.)

"सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने अपनी रचनाओं में काव्य के मोहक स्वरूपों का समावेश किया है। एक तरफ काव्य में आत्म चिन्तन, मानवीयपक्ष और प्रगति तथा प्रकृति की अनुपम छटा के दर्शन होते हैं तो वहीं द्वन्द्वों व अलंकारों के बेहतर प्रयोग ने निराला के काव्य की उत्कृष्टता को भी मूर्तिमान कर दिया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के उत्तम गुणों को प्रेरक शक्ति के रूप में उपस्थित किया है तो आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों कों भी भारतीय सन्दर्भ में प्रदर्शित किया। शिल्प पक्ष की महानता व विवधता ही उनके निरालापन का आभास कराती है।''

निराला पूर्णत: विद्रोही कवि थे। उनके काव्य में शिल्प में विद्रोह की छाप स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है। यदि हम उनके आध्यात्मिक व भौतिक दोनों पक्षों का अवलोकन करें तो साफ दिखायी देता है कि उनकी काव्य दृष्टि काफी विशाल हैं। एक तरफ उन्होंने भारतीय संस्कृति के उत्तम गुणों को प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रहण किया है, वहीं दूसरी तरफ आर्थिक, राजनीति, सामाजिक एवम् साहित्यिक परिस्थितियों को भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित किया है। यह कहने में कोई संकोच नहीं कि निराला निर्श्चित तौर पर हमारे भारतीय संस्कृति के दूत के रूप में सामने पाए जाते हैं। इसी रूप में उनके काव्य का भावपक्ष अनेक स्तर पर श्रेणियों में मौजूद है।

निराला, छायावादी कवियों में एक ऐसे कवि हैं जो दोनों स्तरों पर विराजमान है पहला आध्यात्मिक धरातल दूसरा यथार्थ के धरातल पर। इसी भाव से उनके व्यक्तित्व में निरालापन दृष्टिगोचर होता है।

काव्य का स्वरूप

निराला जी ने अपने विचारों व भावों के अनुसार विभिन्न काव्य स्वरूपों को अपनाया है। अपने हृदय में उत्पन्न भावाभिव्यक्ति हेतु गीत के तरफ झुके हैं। राष्ट्रीय गौरव व सामाजिक विचार प्रकट करने के लिए प्रगीतों की प्रस्तुती, व्यक्तिगत साधना या किसी गहन उद्देश्य की पूर्ति के लिए आख्यानक प्रगीत और जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए गीति नाट्य का सहारा लिया जिसमें भारतीयता के साथ युग सापेक्ष दृष्टि उजागर हुयी[१]।

निराला ने काव्य के चार रूपों को ग्रहण किया है—१. गीत, २. प्रगीत, ३. आख्यानक काव्य, ४. गीति नाट्य,

गीत—निराला ने लगभग चार सौ गीत लिखा है—१. अन्तिम समय में निराला ने अधिकतर गीत ही लिखा है। गीत लेखन गीतिका से माना जात है। अधिकांश गीत वे ही सम्मिलित हैं जिन्हें आरम्भिक प्रगीतों की रचना के साथ-साथ लिखे थे। उनके गीत खड़ी बोली के हैं जिनमें संत पदावली से अलग, वर्तमान मानव की मन: स्थिति के अनुकूल भावनाओं को व्यक्त किया गया है, यही इनके गीतों की पहली विशेषता हैं। उनके गीत भी सूर, कबीर, तुलसी, मीरा की तरह शास्त्रीय संगीत के आधार पर लिखे गए हैं। गीतिका की भूमिका में निराला जी ने गीत

लेखन पर पर्याप्त प्रकाश डाला हैं। उनके विचार से संत कवियों के गीतों व पदों में एक दोष है कि वे युग की भावनाओं को व्यक्त नहीं करते। यही सही है कि कबीर की भाषा में ओज है, सूर, तुलसीदास के गीतों का साहित्यिक महत्त्व है, मीरा, हृदय की पीड़ा को मूर्तमान करती हैं, लेकिन कबीर के निर्गुण व्रहन विवेचन, सूर, तुलसी, मीरा के सगुण ब्रह्म और कृष्ण के चरित्र का गान आज के मानव को तृप्त नहीं कर सकते, क्योंकि आज का मानव सौन्दर्य प्रेम, प्राकृतिक सुषमा और सामाजिक हलचलों में खोया रहता है। अतः ऐसे गीतों की आवश्यकता है, जो इन सबको सम्माहित कर सके। निराला ने ऐसे ही गीत लिखे है।[२]

संगीत तत्व, निराला के गीतों की दूसरी विशेषता हैं। उनका शैशव बंगाल में व्यतीत हुआ, इसी कारण उन्होंने अपने गीतों में बंगला के माध्यम से ग्रहण किए गए, संगीत तत्व को समाविष्ट किया। हिन्दी संगीत की शब्दावली और गाने का ढंग दोनों में सुधार करने का प्रयास किया। अपनी भूमिका में धम्मार, झपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा आदि के अनुसार गीतों के गाए जाने की स्वर लिपि का विधान भी भूमिका में किया है—अपने गीतों को गायकों के मुताबिक गाने की स्वतन्त्रता देना निराला को सर्वतोमुखी काव्य शिल्पकार की श्रेणी में खड़ा करता है। उन्होंने लिखा—

जग का एक देखा तार।
कंठ अगणित, देह सप्तक
मधुर स्वर झंकार।।[३]

जिसे संगीत के रूप में इस तरह देखना चाहते हैं—

एक देखा। तार जग का।
कंठ अगणित। देह सप्तक।
मुधर स्वर झङ् । कार जग का

निराला के गीतों में पूर्णतः साहित्यिक सौन्दर्य दिखायी देता है। जिसमें दार्शनिकता रहस्य, मानवीय सौन्दर्य, बलिदान की भावना और आत्म निवेदन सभी तत्व मौजूद हैं। प्रसाद जी ने लिखा है कि "उसके (गीतिका) चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भाष्वर है। उसका दादर्शनिक पक्ष गंभीर है और व्यञ्जक मूर्तिमती है[४]।

एक तरफ निराला दार्शनिक की पूर्णछाया में आत्म निवेदन करते हैं तो कहीं रहस्यवाद की विचारधाराएँ पूर्णरूप से भरी दिखायी देती हैं—

दो सदा सत्संग मुझको।
अनृत से पीछा छूटे,
तन हो अनृत का रंग, मुझको
अशन व्यसन तुने हुए हों,
खुले अपने ढंग,
सत्य अभिधा साधना हो,
बाँधना हो व्यंग मुझको,[५]

सत्संग की महत्ता महान् दार्शनिक पक्ष का बोध तो कराती ही है रहस्य व आत्म निवेदन के माध्यम से निराला ने मानव के सुखमय व उन्नत जीवन की कामना किया है—रहस्य के सागर में अर्चना में ही उन्होंने लिखा—

राह रही जहाँ वहाँ पन्थ न सूझा।
चाह रही जहाँ वहाँ एक न बूझा,
ऐसी तलवार चली कुनबा जूझा,
बन गायी वह कि दूर हुई सगाई।[६]

आत्म निवेदन और रहस्य—

साधो मग डगमग पग,
तमस्तरण जागे जग।
शाप शयन सो सोकर
हुए भीर्ण खो खोकर,
अनवलाप रो -रोकर,
हुए चपल छलकर ठग।

खोलो जीवन बन्धन
तोलो अनमोल नयन
प्राणों के पथ पावन,
रंगों रेणु के रंग रग।।[७]

उन्होंने आत्म निवेदन और प्रेम के साथ-साथ प्रकृतिक के बीच सामंजस्य को मानवीय संवेदनाओं से जोड़ा है जिस पर सहृदय निश्चित रूप से भाव-विह्वल हो जाते हैं—

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु!
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु!
वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी
देती थी सबके दाँव, बन्धु।।

—(अर्चना प.सं. ३७, पृ. ५१, लोकभारती प्रकाश नई दिल्ली।)

उन्होंने अपने गीतों में मानव समुदाय की भावनाओं को मुखरित होने का अवसर दिया है। गीतों में लघु आकार में पिरोना निराला की विशेषता है जिनमें खड़ी बोली भाषा का प्रयोग हुआ है जिसमें तत्सम का भी प्रयोग हुआ है। संगीतों के माध्यम से निराला ने हृदय की कोमल भावनाओं का उद्घाटित किया है जिनके भाव चित्रण की प्रधानता साफ दिखायी देती है।—संध्या सुंदरी, विधवा, खण्डहर, भिक्षुक में ये भाव स्पष्ट झलकते हैं। "निराला के हृदय में करुणा न सहानुभूति का श्रोत बहुता हुआ दिखायी देता है"[८], भिक्षुक का एक उदाहरण वह आता—

दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुलिन टेक,
मुट्ठीभर दाने को - भूख मिटाने को
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता,
दो टूक कलेजे को करता,
पछताता पथ पर आता।। (भिक्षुक)

लोकगाथाओं पर आधारित आख्यानक काव्य के बहाने निराला ने आम जनमानस के माध्यम से लोक विश्वासों और बलिदान की भावना को परिलक्षित किया है। राम की शक्तिपूजा और तुलसीदास में उन्होंने यह भावना गहराई तक करने की कोशिश किया है- "राम की शक्ति पूजा में यह लोकविश्वास उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा, परिष्कृत रोला छन्द और एक महत्त उद्देश्य के साथ समन्वित होकर निराला काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बन गया है।[९], उन्होंने राम की शक्ति पूजा में स्वाभिमान की रक्षा का उदाहरण हृदयस्पर्शीभाव में व्यक्त किया है[१०]।

छन्दों के मामले में निाला का विद्रोह अधिक स्पष्ट और मुखर दिखता है। छन्द विधान के अनेक पक्षों में निराला की आरम्भ से ही दृष्टि रही। एक ओर उनकी चिंता थी कि उनके लिखे हुए खड़ी बोली के गीत सामान्य जन और कलावंतों के होठों पर वैसे ही बस जाएँ जैसे व्रज भाषा में लिखे गए रसखान के बोल और पदों की रही। दूसरी ओर पारंपरिक छंग को तोड़कर उसे नए ढंग से बनाने में उनका विशेष ध्यान रहा।[११]

अन्याय जिधर है उधर शक्ति कहते छल छल
हो गए नयन, कुछ बूँद, पुनः पनके दृगजल
(राम की शक्ति पूजा)

कविता की मुक्ति के लिए छन्दों के बन्धन से मुक्त करना निराला जी ने आवश्यक समझा। उन्होंने मुक्तक छन्द का प्रवर्तन कर पर्याप्त सफलता प्राप्त किया। सन्ध्यान सुन्दरी का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

दिवसावसान का समय

मेघमय आसमान से उतर रही है—

वह संध्या सुंदरी परी सी

धीरे-धीरे-धीरे।''

उन्होंने अपने कविताओं को तीन खण्डों में विभाजित किया था—

(क) सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ, (ख) विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ, (ग) स्वच्छन्द छन्द में कविताएँ।[१२]

सममायिक—खोज और उपहार शीर्षक (परिमल)

''चकित चितवन कर अन्तर पार
खोजती अन्तरतम का द्वार
बालिका सी व्याकुल सुकुमार
लिपट जाती जब कर अभिमान
आयु सिंचित जब दोनों भींच
कमल कर कोमल कर से खींच
मृदुल पुलकित उर से उर सींच
देखती किसकी छवि अनजान।।

समस्त चरण में १६-१६ समान मात्राएँ हैं। गीति काव्य में इसी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया जाता है। हालांकि परिमान के प्रथम खण्ड में संकलित रचनाओं में मात्रिक अर्द्धसम हैं—

बता कहाँ अब वह वंशी वट
कहाँ गए नरजाजर श्याम?
चल चरणों का व्याकुल पनघट

कहाँ आज वह वृन्दा धाम? (यमुना के प्रति) यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में १६-१६, तृतीय चतुर्थ में १५-१५ मात्राएँ प्रयुक्त हुयी हैं।

विषम मात्रिक 'सान्त्यानुप्रास कविताएँ—ऐसी कविताओं में प्रत्येक चरण में विषम मात्राएँ होती हैं- लेकिन तुक मिलते जाते हैं। विधवा भिक्षुक में इसी तरह के छन्द का प्रयोग हुआ है।

स्वच्छन्द छन्द–उनकी सबसे बड़ी देन हिन्दी कविता को स्वच्छन्द छन्द है। उन्होंने परिभक्त की भूमिका में स्वयं लिखा है—''मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती हैं। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।''[१३] उन्होंने छन्दों के बहुविध प्रयोग किए है।

अलंकार विधान–अलंकार का आशय भूषण या सौन्दर्य से लिया जाता है। देववाणी संस्कृत के विद्वानों व आधुनिक भाषा विद्वानों ने भी इस पक्ष में स्वीकार किया है। दण्डी ने कहा कि काव्य शोभाकरान धर्मान् लंकरान् प्रचक्षते। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी माना कि भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है। आचार्य भामह ने माना कि - "अलंकार विहीन काव्य नहीं है। न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताम् ।

निराला ने संगीत प्रियता के कारण अनुप्रास को ठीक ढंग से अपनाया जिससें भाषा में कसावट आती है।

नहीं ज्ञात, उत्पात हुआ क्यों?
ऐसा निष्ठुर बात हुआ क्यों?
विमल गात अस्वात हुआ क्यों?
बढ़ते को प्रतिकूल हो गये?[१४]

निराला के हृदय में करुणा व सहानुभूति का स्रोत बहता हुआ दिखाई पड़ता है। भिक्षुक ने आपने लिखा[१५]—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी पर दाने को भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछतावा पथ पर आता

प्रेरणा व स्वाभिमान को रक्षा का उदारण हृदयस्पर्शी भाव निराला ने

"जागो फिर एक बाद दिया है—

सिंही की गोंद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण? रे अजान!
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष -
दुर्बल वह -
छिनती संतान जब जन्म पर अपने अभिशप्त।।

निराला के काव्य में उपमा, सन्देह, यमक व श्लेष अलंकारों का प्रयोग हुआ है जिससे काव्य की रमणीयता बढ़ गयी है। उन्होंने काव्य की विशालता के अनुकूल ही अलंकारों का विधान किया है। मन को आह्लादित कर रस से सरावोर करने वाले मौसम फाल्गुन में फागुनी त्योहार होली का उल्लास उनकी प्रस्तुत रचना से अनायास ही आँखें के सामने घूमने लगता है और प्रतीत होता है कि पाठक स्वयं अपनी होली का आनन्दमय रसपान कर रहा है—

फूटे हैं आमों में बैर
भौंर वन-वन टूटे हैं।
होली मची ठौर-ठोर,
सभी बन्धन छूटे हैं।
फागुन के संग राग,
बाग वन फाग मचा है,
भए गए मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।
माथे अबीर से लाल,
गाल सेंदुर के देखें,
आँखें हुयी हैं गुलाल,
गेरू के ठेले कूटे हैं।।

अर्चना गीत सं. ३३ पृ० ४७, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली।

इस प्रकार निराला के काव्य में शिल्प पक्ष गंभीर व सौन्दर्यपूर्ण दिखाई देता है। इस दृष्टि से निराला के काव्य की विशालता व विशिष्टता काफी महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

टिप्पणी

१. निराला - इन्द्रनाथ मदान पृ. १३९, लोकभारती द्वितीय संस्करण, प्रकाशन इलाहाबाद - १.
२. निराला, सम्पादक, इन्द्रनाथ मदान, १४०, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
३. गीतिका, निराला।
४. गीतिका में प्रसाद का मत।
५. अर्चना, पृ. ३५, लोकभारती प्र. नई दिल्ली।
६. अर्चना, पृ. ३४ लो. भा. प्र. ई.
७. अर्चना, पृ. २८.
८. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, पृ. ३०४, डॉ. गुलाब राम, साहित्य रत्न भाग, आगरा, तीसवाँ, संस्करण १९६५
९. निराला, पृष्ठ- १४८ सं. इन्द्रनाथ मदान, लोकभारती १५ ए प्रकाशन इलाहाबाद - द्वितीय संस्करण-१९९८.
१०. निराला की साधना - रामविलास शर्मा पृ. ४८ भाग - ३ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
११. आधुनिक कविता यात्रा - रामस्वरूप चतुर्वेदी लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृ. ४२, द्वितीय संस्करण- २००२.
१२. निराला - इन्द्रनाथ मदान - लोकभारती प्रकाश पृ. १५० द्वितीय संस्करण, १९९८.
१३. निराला, लोकभारती प्रकाश इलाहार पृ. १५२।
१४. अर्चना गीत संत्रया ५४, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ६८
१५. हिन्दी साहित्य का सुबोध साहित्य पृ. ३०४, डॉ. गुलाब राय साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, तीसवाँ संस्करण, १९६५.
१६. आधुनिक कविता यात्रा - रामस्वरूप चतुर्वेदी लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद पृ. ४२ द्वितीय संस्करण - २०००.



मध्ययुगीन भारत में तुलसी की भूमिका

सतीशचन्द्र शुक्ल
सहायक प्रोफेसर आधुनिक विषय
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर, (उ.प्र.)

भारत के मध्य युगीन धार्मिक इतिहास की सबसे प्रमुख घटना भक्ति आन्दोलन है। आदिकाल से आज तक पवित्र भारत भूमिक आक्रांताओं के प्रहार से जर्जर हो गई। ज्ञान मानस टूटने के कगार पर खड़ा हो गया तथा भारतीय संस्कृति के समक्ष उसके अस्तित्व का प्रश्न चुनौतीपूर्ण खड़ा हो गया। ऐसी स्थिति में भारत वर्ष का प्राण मनीषा ने आगे बढ़कर भारतीयता को संजोने का निर्णय लिया तथा तत्कालीन परिस्थितियों में जनमानस का मार्ग दर्शन करने का प्रयास किया। भक्ति के सहज और सरल रूप के चलते जन साधारण तक सरलता से पहुँचकर तत्कालीन परिस्थितियों के समक्ष खड़े होने का सम्बल प्रदान किया।

गोस्वामी तुलसीदास युग चेतना, युग प्रणेता, युग स्रष्टा, समन्वयवादी दार्शनिक तथा संत महापुरुष थे, जो मानव समाज को अपनी शिक्षाओं के माध्यम से सभ्य बनाना चाहते थे। गोस्वामी तुलसीदास भारतीय संस्कृति के ज्वलन्त प्रतीक है। इनकी रचना श्रीरामचरितमानस में सामाजिक धारणाओं के मूलभूत तत्त्वों के साथ-साथ विकसित आदर्श भी मिलते हैं। वह मर्यादावादी थे। उन्होंने सदा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया।

उन्होंने लोक जीवन के लिए लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही आदर्शों का वर्णन किया है। तुलसी ने राजा, प्रजा, भाई, माता, पिता-पुत्र, मित्र, सेवक, शत्रु इत्यादि सभी के स्वरूप एवं उनके कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। प्रभु श्रीराम की जीवन गाथा के आदर्शों को ग्रहण करने से समस्त समस्याएं सुलझ जाती है। राजा दशरथ-कौशल्या में वात्सल्य भाव, सीता में दाम्पत्य भाव, भगवान् हनुमान में प्रेम भाव तथा रावण में बैर भाव की शक्ति देखने को मिलती है। तुलसीदास की शिक्षा एवं दर्शन ऐसा है जिससे सम्पूर्ण मानव जाति का भला हो सकता है। उन्होंने सम्पूर्ण जन मानस को त्याग की शिक्षा दी है।

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावत रघुबरहिं, भरत सरसि को आजु[1]।।

तुलसीदास ने जाति-पाति की भावना का विरोध किया। ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिससे भावी पीढ़ियाँ कुछ सीख सके। उन्होंने ऊँच-नीच की भावना की धज्जियाँ उड़ाते हुये एक ओर जहाँ कुल गुरु जैसे उच्च कुलीन ब्राह्मण वशिष्ठ को निषाद राज जैसे निम्न कोटि के व्यक्ति से गले लगवाया, वहीं दूसरी ओर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को शबरी नामक भक्त के जूठे बेर तक खिलवा दिया।

प्रथम भगति संतह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगत अमान।
चौथि भगत मम गुन गन,
करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा,
पंचमभजन सो वेद प्रकासा।।
छठदम सील बिरति बहु करमा,

निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातवाँ सम मोहि मय जग देखा।
मोते संत अधिक करि लेखा।।
आठवाँ जथ लाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहि देखऽपरदोषा।।
नवम सरल सब छल हीना।
सम भरोस हियँ हरष नदीना[२]।।

तुलसीदास के श्रीरामचरित मानस में स्थान-स्थान पर नैतिक शिक्षा भरी हुई है। तुलसी ने नैतिक शिक्षा एवं मानवीय अनुशासन का कोई पक्ष अछूता नहीं छोड़ा है। यदि विशाल धार्मिक ग्रन्थ वेद, पुराण एवं उपनिषदों को पढ़ने का अवसर न भी मिले तो मानस के अध्ययन से सभी ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुकूल आचरण एवं अधर्म के प्रति युद्ध करते हुए उसके निराकरण में हम जिस सीमा तक लगते हैं, उसी सीमा तक मानो राम को अपने जीवन में उतारते हैं। श्रीराम आर्य संस्कृति की सामाजिक मर्यादा के आदर्श हैं। वे ही धर्म हैं, वे ही जीवन है, वे ही आत्मा हैं, वे ही परमात्मा है। समग्र भक्तिकाल मानववाद का प्रतिष्ठापरक रहा है। तुलसी साहित्य में मानव जीव के बहुआयामी संघर्ष नजर दिखाई देते हैं। इस संघर्ष में तुलसी के राम, ब्रह्म व ईश्वर तो हैं ही पर मानव रूप में ही हैं। तुलसी ने पूरी सामंती शासन व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करके रामराज्य का विकल्प प्रस्तुत किया है, जिसका मूल, ईश्वरवाद एवं लोकवादिता है। तुलसी की समन्वयवादिता एवं लोकवादिता वे अन्य प्रमुख प्रवृत्तियाँ है, जिनके चित्रण का प्रतिशत तुलसी की रचनाओं में अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। यह सब मिलकर तुलसी को एक विराट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। तुलसी के अन्दर शास्त्रीय विद्वान उनके लोक आग्रही रूप में ताक-झाँक करता रहता है। तुलसी के दार्शनिक चिन्तन और हिन्दी आलोचना में उनके कलियुग और रामराज्य, वर्णाश्रम व्यवस्था, नारी सम्बन्धी दृष्टि, परिवार आदि प्रसंगों पर विस्तृत मीमांसा की गई है। तुलसी की कविता और हिन्दी आलोचना इसमें तुलसी के काव्य एवं उस पर आलोचकों के मतों की तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विधि द्वारा समीक्षा करते हुये समझने का प्रयास किया गया है जिससे तुलसी की काव्यवस्तु एवं तुलसी के काव्यशिल्प को दो भागों में बाँटा गया है। काव्यवस्तु में प्रकृति सौन्दर्य नीति का सुन्दर समन्वय मिलता है, जबकि काव्यशिल्प में प्रबन्धकाव्य, भाषा, मूर्त विधान, रसछन्द सादृश्य विषयों पर तुलसी के मतों की समीक्षा की गई है। जिसके आधार पर तुलसी को समग्रता में समझा जा सकता है।

पादटिप्पणी

१. श्रीरामचरित. अरण्यका. ३४/८-३५/५
२. श्रीरामचरितमानस अयोध्या काण्ड २७२ पृ.।

स्मृतियों में स्त्रीधन की अवधारणा

संगीता राय
शोध छात्रा,
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-११००६७

संक्षेपिका—वैदिक काल से ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति में स्त्रियों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों को देवी रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यद्यपि भरतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है तथापि इस समाज में स्त्रियों को विशेष अधिकार प्राप्त है। जिनका वर्णन धर्मशास्त्रों में प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के रक्षक, अधिकार, उत्तराधिकार सम्बन्धित नियम एवं माता-पिता से प्राप्त सम्पत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है। आधुनिक समय में २००५ में Hindu succession act 1956 में संशोधन हुआ और स्त्रियों को हिन्दू अविभाजित परिवार सम्पत्ति में सम्पत्ति के हस्तांतरण का अधिकार मिला। इस शोध पत्र के माध्यम से स्त्रियों की सम्पत्ति, उनके प्रकार, उस सम्पत्ति के उपयोग का अधिकारी उस स्त्री के अतिरिक्त कौन हो सकता है? आदि विविध विषयों का विवेचन याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति एवं नारद स्मृति के विशेष सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

स्त्रीधन एवं उसके प्रकार

विवाह के समय माता-पिता, भाई, पति एवं मातुल आदि के द्वारा दिया हुआ, अग्नि के समक्ष मातुल आदि के द्वारा दिया हुआ, दूसरे विवाह के समय पहली पत्नी को दिया हुआ तथा दाय, परिग्रह तथा अधिगम के द्वारा प्राप्त धन स्त्रीधन है—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ।।

विवाह के समय अग्नि के समक्ष स्त्रियों को जो धन दिया जाता है वह अध्यग्नि शब्द से कहा जाता है। एक स्त्री के उपस्थिति के बावजूद किसी कारणवश दूसरा विवाह करते हैं तो उसे अधिवेदन कहते हैं तथा उस विवाह के कारण जो पूर्व पत्नी को धन देते हैं उसे अधिवेदनिक कहते हैं।

इस प्रकार अध्यग्नि एवं आधिवेदनिक स्त्री धन के प्रकार हैं।

मनु ने कहा कि दाय, संविधान, क्रय तथा अधिगम से प्राप्त सभी धन स्त्रीधन होता है। स्त्रीधन शब्द यौगिक है पारिभाषिक नहीं। मनु ने छः प्रकार के स्त्रीधन बताये हैं—१. कन्यादान के समय अग्नि के समीप दिया गया धन, २. पिता के घर से पति के यहा लाया गया धन, ३. प्रीति के लिए (पति द्वारा) दिया गया धन, ४. भाई के द्वारा दिया गया धन, ५. माता के द्वारा दिया गया धन, ६. पिता से प्राप्त धन।

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं चप्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ।।[2]

मनु द्वारा प्रतिपादित स्त्रीधन के छः प्रकार न्यून संख्या की अवच्छेदिका है, न कि अधिक संख्या की। कात्यायन ने छः से अधिक स्त्रीधन के प्रकार एवं उसके स्वरूप को बताए हुए कहते हैं कि—१. विवाह के समय अग्नि के समक्ष स्त्री को दिया गया धन अध्यग्निकृत स्त्रीधन है—

विवाहकाले यत्स्त्रीयोभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ।।[३]

२. पिता के घर से पति के घर जाने के समय दिया गया धन अध्यावहनिक स्त्रीधन है—

यत्पुनर्लभ्यते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् ।
अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनगमं तदुदाहृतम् ।।[४]

३. सास तथा श्वसुर द्वारा प्रीतिपूर्वक दिया गया धन तथा पादवन्दिक (चरणस्पर्श) के समय प्राप्त धन प्रीतिदत्त है।

प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वश्रवा वा श्वशुरेण वा ।
पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते।।[५]

४. विवाहिता कन्या पिता या पति के घर में भाई, माता-पिता से जो कुछ धन प्राप्त करती है, वह सौदायिक धन कहा जाता है—

ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगुहेऽपि वा।
भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ।।[६]

नारद ने भी छः प्रकार के स्त्रीधन स्वीकार किये हैं—

अध्यग्न्यध्यावहनिकं भ्रर्तृदायस्तथैव च।
भ्रातृमातृभ्यश्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ।।[७]

स्त्रीधन के विषय याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कन्या के मातृबन्धु और पितृबन्धु के द्वारा कन्या को उद्देश्य करके प्रदत्त धन को बन्धुधन कहते हैं, जो स्त्रीधन ही होता है। इसके अतिरिक्त कन्या के बदले में प्राप्त धन तथा परिणय के पाश्चात प्रदत्त धन भी स्त्रीधन होता है जिसे क्रमशः शुक्ल एवं अन्वाधेयक कहते हैं। कात्यायन ने भी इसे स्वीकार किया है।

धन का अधिकारी

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि सन्तति रहित स्त्री के मर जाने पर स्त्री के धन का अधिकारी पति यदि होता है—

अतीतायामप्रजसि बान्धवास्तदवाप्नुयुः।।[९]

इसके अतिरिक्त विवाह के भेद से अधिकारी कि भिन्नता बताई गई है। कहा गया है कि ब्रह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य इन चार प्रकार के विवाह में सन्तान रहित स्त्री के धन का अधिकारी पति होता है तथा पति के अभाव में उस धन का अधिकारी पति का निकटस्थ संबंधी होता है। इसके विपरीत शेष चार प्रकार के विवाहों असुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच में सन्तति रहित स्त्रीधन पितृगामी होता है—

अप्रजःस्त्रीधनं भर्तुः ब्राह्मादिषुचतुर्ष्वपि।
दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगाति तत् ।।[१०]

इसके विपरीत यदि सन्तति के रूप में अगर पुत्री है तो माता के धन अधिकारी सर्वप्रथम पुत्री ही होगी। उसमें भी पहले अविवाहित तत्पश्चात् विवाहिता पुत्री के अधिकार है। इस विषय में गौतम ने कहा है कि प्रत्येक माताओं के स्वजाति आदि के अनुसार भागविशेष की कल्पना करनी चाहिए। पुत्री एवं दौहित्री के समुदाय में यद्यपि पुत्री का ही अधिकार है तथापि दौहित्री के लिये भी किञ्चित् धन देना चाहिये।[११] मनु ने कहा है कि जो जिसकी पुत्रियाँ हों, उनको भी माताम (नानी) के धन से किञ्चित् धन देना चाहिए—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ।।[१२]

इसके अभाव में पौत्र धनाधिकारी होता है। इस संबंध में नारद ने कहा है कि—पुत्री के अभाव में माता के धन में पुत्रियों अन्वय अर्थात सन्तति के अधिकार होता है। तात्पर्य यह है कि धनाधिकार दौहित्री का होगा—

मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः' इति।।[१३]

दौहित्री के अभाव में धन का अधिकारी पुत्री का पुत्र होगा। मनु ने इस सन्दर्भ में कहा है कि माता के न रहने पर सभी सहोदर भाई एवं बहन धन का समान विभाजन करें—

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः।।[१४]

तात्पर्य है कि पुत्री के अभाव में पुत्र समान रूप से सम्पत्ति का विभाजन करें। धनाधिकारी का विस्तृत विवेचन करते हुए मनु कहते हैं कि ब्राह्मण पुरुष की नाना जाति कि स्त्रियों के होने पर तथा पति आदि के न रहने पर क्षत्रिय वर्ण आदि की स्त्री के मृत्यु होने पर उस स्त्री के धन का अधिकारी ब्राह्मण कन्या होगी अथवा उस कन्या का पुत्र होगा—

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्।।[१५]

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि अकालपीड़ित के कारण भोजनाभाव होने पर, आवश्यक धर्मकार्य के अनुष्ठान के समय तथा दुसःह रोगादि के निवारण में पति द्वारा लिया हुआ स्त्रीधन पत्नी को वापस करना आवश्यक नहीं है—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।[१६]

मनु ने कहा है कि पति के न रहने पर जो बान्धव आदि के द्वारा स्त्री के धन का ग्रहण पर राजा द्वारा उन व्यक्तियों को चौरदण्ड से दण्डित करना चाहिये।[१७] इसके अतिरिक्त पिता आदि के द्वारा स्त्री धन नहीं दिये जाने पर, किसी कारणवश पति दूसरा शादी करता है तो दूसरे विवाह में किये गये द्रव्य-व्यय के बराबर धन पहली स्त्री को दिया जाना चाहिये। विवाह के समय स्त्री धन दिये जाने पर वैवाहिक व्यय का आधा धन पहली स्त्री को दिया जाना चाहिये—

अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम्।
न दत्तंस्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्।।[१८]

औपनिवेशिक शासन के समय स्मृतिशास्त्रों में पतिपादित स्त्रीधन से सम्बन्धित नियमों को निर्थक बताया गया तथा ऐसे नियम बनाये गये जिसके द्वारा स्त्रियों का सम्पत्ति से अधिकार समाप्त हो गये।[१९] इसके कुछ उदाहरण निम्न है—

1. 1874 में Gonda kooer बनाम looer Gody singh का मुकदमा जिसमें विधवा ने स्त्रीधन की सम्पत्ति को बेंचकर कुछ सम्पत्ति खरीदी परन्तु कोलकत्ता हाईकोर्ट उस सम्पत्ति को स्त्रीधन स्वीकार नहीं किया। कोर्ट का कहना था कि यह सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं है तथा स्त्री को हस्तांतरण भी अधिकार प्राप्त नहीं है। यह सम्पत्ति उसके पति के उत्तराधिकारी का होगा।[20]

2. इसी प्रकार 1873 में देव प्रसाद बनाम लुजो राय का मुकदमा था जिसमें कोर्ट का कहना था की पिता से प्राप्त पुत्री को सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं है।[21]

3. Hindu Women's right to property act में स्त्रीधन का वर्णन—

4. 1937 में स्त्रीधन को स्वीकार किया गया परन्तु उस पर स्त्रियों का पूर्णाधिकार प्राप्त न था।

5. 1938 में विधवा स्त्रियों को पति का धन प्राप्त था परन्तु इसमें भी अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं था।

6. 1956 में स्त्रीधन पर स्त्रियों का पूर्णाधिकार प्राप्त हुआ तथापि इस कन्या के पुत्र का समानाधिकार प्राप्त न था।

7. परन्तु 2005 में Hindu succession act 1956 में संशोधन हुआ और स्त्रियों को हिन्दू अविभाजित परिवार सम्पत्ति में सम्पत्ति के हस्तांतरण का अधिकार मिला।

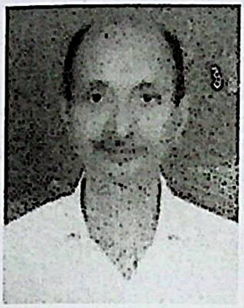
8. Hindu succession act के section 6 में संशोधन कर कहा गया की स्त्री उत्तराधिकारी को वो समस्त अधिकार प्राप्त होंगे जो पुरुष उत्तराधिकारी को प्राप्त है।[22]

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धित विशेष प्रकार के अधिकार प्राप्त थे जिसका वर्णन धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु अंग्रेजी शासन के समय इसमें काफी परिवर्तन हुआ। वर्तमान समय में २००५ के अधिनियम के तहत चल-अचल सभी प्रकार के सम्पत्तियों पर लड़कों के समान लड़कियों को भी ५०% सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त है। परन्तु भारतीय पुरुष प्रधान समाज में लड़कियों को जा पराया धन के रूप में समझा जाता है, ऐसी जो मासिकता है यह अधिनियम उसे बदल पायेगा या नहीं, यह एक विवादित प्रश्न है जो भविष्य के गर्भ में छुपा हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४३
२. मनुस्मृति ९/१९४
३. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४३
४. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४३
५. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४३
६. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४३
७. नारद स्मृति, दायभाग-४/१३/८
८. "विवाहात्परतो यच्च लब्धंलब्धं पितुकुलात्तथा...." याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४४
९. याज्ञवल्क्य स्मृति-२/१४४
१०. याज्ञवल्क्य स्मृति-२/१४५
११. याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा से उद्धृत २/१४५
१२. मनुस्मृति-९/१९३
१३. नारद स्मृति-४/१३/२
१४. मनुस्मृति-९/१९२
१५. मनुस्मृति-९/१९८
१६. याज्ञवल्क्य स्मृति २/१४७
१७. जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥

मनुस्मृति-८/२९
१८. याज्ञवल्क्य स्मृति २/१४८
१९. Family laws and constitutional claim-1, page no-33
२०. Family laws and constitutional claim-1, page no-22
२१. Family laws and constitutional claim-1, page no-22
२२. हिन्दू विधि, यू.पी.डी. केशरी



गुलाम भारत में सत्याग्रह की पहली जमीन

मोहन पाण्डेय

सहायक प्रोफेसर आधुनिक विषय
कोआर्डिनय (आईयू एसी)
निदेशक, गांधी अध्ययन
केन्द्र, श्रीनाथ संस्कृत
महाविद्यालय, हाटा, कुशीनगर, (उ.प्र.)

गुलाम भारत में दमनकारी ब्रितानियों की करतूतों से पूरी जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। व्यापारी, किसान या कामगार हर वर्ग शोषण व आक्रांतव्यवहारों से आक्लांत था। सभी प्रान्त अपने अलग-अलग समस्याओं से सामना कर रहे थे। किसानों के उपज का कर अलग समस्या थी और अपने मन मुआफिक जबरन खेती करवाना भी अंग्रेजों की फितरत में थी। लोग अंग्रेजों के ईशारे पर सब कुछ करने को मजबूत थे। बेगारी, जबरन काम करवाना एक गम्भीर समस्या बन चुकी थी। चम्पारण की उपजाऊ जमीन की कीमत का रहस्य अंग्रेजों को ज्ञात हो चुका था और वरदायिनी नदियों व जंगलों से मिल रहे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लाभ से खेती की उर्वरता भी काफी महत्वपूर्ण हो चुकी थी। दर्जनों तरह के कर से चम्पारण के किसानों की कमर टूट चुकी थी। लेकिन शक्तिशाली शासन के आगे सभी मजबूर थे और प्रतिरोध का साहस नहीं हर गया था। हालाँकि कुछ प्रगतिशील किसानों ने शान्तिपूर्ण तरीके से विरोध का झण्डा उठाना शुरू किया था। डॉ. राजेन्द्र प्रासाद, बृजकिशोर प्रासाद, मौलाना मजहरूलहक, युगुल किशोर शुक्ल जैसे बुद्धिजीवियों ने नील की खेती जबरन कराने को गलत माना और विरोध किया। १० अप्रैल, १९१४ को विहार काँग्रेस कमेटी ने माना कि चम्पारण में किसानों की हालत बद से बदतर होती जा रही है। इस स्थिति से निपटने व मौजूद हालात की जानकारी लेने के लिये प्रान्तीय कमेटी ने एक जाँच कमेटी चम्पारण भेजा। १९१६ में लखनऊ काँग्रेस अधिवेशन में नीलहे किसानों की दुर्दशा पर चर्चा हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि १९०८ में चम्पारण के किसानों ने नील की खेती करने से मना कर दिया था।[२] अंग्रेजों के अमानवीय अत्याचार से किसानों में जीवन-यापन की स्थिति काफी चिन्तनीय थी। अंग्रेजों ने इसके विरुद्ध कड़ाई किया और १९०८ में कई लोगों को सजा दी गयी तथा २०० ऐसे लोग थे जो जेल में बन्द होकर मुकदमें का इन्तजार कर रहे थे। जिन पर जानलेवा हमला व आगजनी के आरोप थे। किसानों के आन्दोलन को धू-धू कर जलाने में ईंधन का काम किया। डंगर और डोम समुदाय के लोगों को मारने-पीटने के साथ ही उनके सीने पर भारी वजन बाँध दिया जाता। जो किसान काम नहीं करते थे, उन्हें मुर्गा भी बनाने की सजा दी जाती थी।[३] नीम के पेड़ में हाथ बाँध दिये जाते थे। पेड़ों की चीटियाँ तो काटती ही थीं, उधर से अंग्रेजों की बेंत पड़ती थी। ऐसे अमानुषिक, बर्बर अत्याचार सहने को मजबूर थी, चम्पारण की जनता। जहाँ हिमालय की सोंधी वायु और विभिन्न तरह के पुष्पों व वनों के आच्छादनका अलग ही सौन्दर्य था। सुकुमारता के रस में निष्ठुरता की पीड़ा और कमाई का अधिकतम हिस्सा अंग्रेजों को दे देना। कुल मिलाकर इस पीड़ा के निवारण का ताना-बनाना तो बुद्धिजीवियों द्वारा बुना जा रहा था, लेकिन सशक्त नेतृत्व के अभाव में किसानों की कमर टूट चुकी थी।

नील की खेती होती थी चम्पारण में और उसके उत्पादन की कमाई यूरोपीय बाजारों में बेचकर अंग्रेज ले रहे थे। तिनकठिया खेती प्रथा ने किसानों की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर कर दिया था। हालाँकि तब तक महात्मा गाँधी अफ्रीका से भारत १९१५ ई. में वापस आ चुके थे और काँग्रेस की बैठकों में भी उपस्थित रहते थे। राजनैतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले की सलाह पर पूरे देश की सामाजिक, आर्थिक व भौगोलिक ताने बाने को गहराई तक समझना बाकी था। इससे पहले वैरिस्टरी छोड़कर लंदन से आने के बाद उन्हें पोरबन्दर निवासी सेठ अब्दुला के मुकदमें के सिलसिले में १८९३ में दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। सिर मुड़ाते ही ओले पड़े वाली कहावत चरितार्थ हो गई। मोरित्सवर्ग स्टेशन पर टिकट चेकर ने उन्हें गाड़ी के डिब्बे से उतार फेका। जो गोरा था, काले लोगों के साथ भेदभाव का उदाहरण स्वयं सामने आ गया जो अन्ततः गोरों के साम्राज्य के विरुद्ध पहाड़ सा साबित हुआ। दक्षिण अफ्रीका में भारतवंशियों पर हो रहे अत्याचार को समाप्त करने के लिए अहिंसक सत्यांग्रह चलाया जिससे गिरमिटियों को उनके अधिकार मिले और अंग्रेजों को मजबूरन तमाम कानूनों को वापस लेना पड़ा।[४] हालाँकि चम्पारण से पहले वे दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष से बहुत कुछ सीख चुके थे और सत्याग्रह की महिमा को गहराईयों से जान चुके थे। उधर चम्पारण की जनता की कमर टूट चुकी थी। किसान आह भर रहे थे। सशक्त नेतृत्व के अभाव में आन्दोलन को धार नहीं मिल रहा था। इसी बीच लखनऊ में १९१६ में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें मोहनचन्द्र करमचन्द गाँधी भी पहुँचे थे। यह जानकर चम्पारण के किसान राजकुमार शुक्ल पहुँचे और वहाँ की स्थिति से अवगल कराया एवं चम्पारण चलने का आग्रह किया, लेकिन उस समय गाँधी जी ने बहुत हल्के में लिया। जब वे कलकत्ता पहुँचे तो श्री शुक्ल वहाँ भी पहुँचे और काफी आग्रह किया। तब उन्होंने दो दिन के लिये चम्पारण चलने की हामी भरी। मोतिहारी पहुँचने के पहले ही गाँधी की कीर्ति मोतिहारी पहुँच चुकी थी। जनमानस में बनने वाली छवि अहिंसक लड़ाई का बड़ा हथियार होती है। लोग जान गये कि वह चमत्कारी आदमी हैं। मोतिहारी जाते समय रास्ते भर किसान उन्हें देखने आते रहे। अंग्रेज अधिकारी प्रशासन हैरान थे कि यह आदमी क्या करना चाहता है? अंग्रेजों को पता था कि दक्षिण अफ्रीका में उनके आकाओं को किस तरह इस साधारण व्यक्ति ने खूब पानी पिलाया था। १६ अप्रैल को जनता से मिलते हैं। लेकिन अंग्रेजों ने जिला छोड़कर चले जाने का फरमान थमा दिया। १७ अप्रैल, १९१७ को कचहरी खचाखच भरी थी। हजारों की भीड़ बाहर खड़ी थी, लोग गाँधी जी की प्रतिक्षा में थे। जज ने पूछज्ञ कि आपके वकील कौन है? वे चुप रहे। उन्होंने कहा कि मैंने जवाब जिलाधिकारी को भेज दिया। जज बोला अदालत को नहीं मिला है। उन्होंने कागज निकालकर पढ़ना शुरू किया— "अपने देश में कहीं भी आने-जाने और काम करने की पूरी आजादी है। इस पर वे कोई बंदिश स्वीकार नहीं करते हैं। मैं जिलाधिकारी के ऐसे आदेश को न मानने का अपराध स्वीकार करता हूँ।" जज ने कहा, अपनी जमानत ले लो या जिला छोड़ दो, गाँधी का फौरी जवाब था, दोनों नहीं सम्भव है। यदि जेल गया तो स्थायी रूप से यहीं बैठ जाऊँगा। हालाँकि दिल्ली के निर्देश पर बाइज्जत छोड़ दिया गया।

यहीं से सत्याग्रह का ताला खुआ और लोग जुड़ते गये। अंग्रेजों को मजबूर होकर तिनकठिया, जिरात, वपहा-पुतहा, आसामीबार, मडवन, फगुआही, दशहरी सटआ सिंगराहट, घोड़ावन लटियावन, शरवेशी दस्तूर तवान व खाँशवी सहित करीब ४६ तरह के अवैध कर वसूल जाते थे, गाँधी के सत्याग्रह के दबाव से धीरे-धीरे सभी कर हटाये गये। आन्दोलन की अनूठी पहल से इसे राष्ट्रीय बनाने में गाँधी सफल

रहे। जहाँ डिप्टी गर्वनर गेट द्वारा बनाई गई चम्पारण एग्रेरियन कमेटी के अनुशंसा पर तिनकठिया प्रथा समाप्त हुई; लगान में कमी की गयी और क्षतिपूर्ति का धन भी मिला। पहली बार शान्तिपूर्ण जनविरोध के द्वारा सरकार से माँगों को स्वीकार करने पर सहमत करना एक बड़ी उपलब्धि थी। राष्ट्रीय स्तर पर इतना सफल व पहला प्रयोग काफी सफल रहा तथा नील कोठी के मालिकों का पलायन शुरू हुआ। चम्पारण को दयनीय दशा देखकर ही गाँधी ने पाठशाला, चिकित्सालय, खादी संस्था व आश्रम स्थापित किया। स्वच्छता व बेसिक शिक्षा पर काफी काम किया गया। मोहनदास करमचन्द गाँधी को यहीं लोगों ने महात्मा माना। यही कारण था कि दो दिन के लिये चम्पारण पहुँचे गाँधी वहाँ की नजर में महात्मा बन गये। सत्य, अहिंसा के मार्ग ने उन्हें एक नई ताकत प्रदान किया। उन्होंने सत्य को परमात्मा भी माना, सत्य से भिन्न कोई परमेश्वर है ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया। यदि इन अध्यायों के पन्नों से यह प्रतीत न हुई हो कि सत्यमय बनने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है, तो मैं इस प्रयत्न को व्यर्थ समझता हूँ।[५]

आन्दोलन का एक और तरीका बेहद अलग ढ़ंग का था। वे मानवीय पक्षों की अवहेलना कभी नहीं करते थे। दक्षिण अफ्रीका में बोअर युद्ध, जो अंग्रेज सरकार और पड़ोसी अफ्रीकी देशों के बीच लड़ा जा रहा था। युद्ध में घायलों के लिये एम्बुलेंस की व्यवस्था भी किया। वे हमेशा कहते थे कि मैं जन्मा तो भारत में हूँ पर तराश गया अफ्रीका में।[६]

चम्पारण की सफलता के बाद महात्मा बनु चुके गाँधी ने राष्ट्रीय क्षितिज पर पहचान बना ली थी और धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगे। सत्याग्रह कर दूसरा प्रयोग गुजरात के खेड़ा में हुआ जो स्थानीय समस्या थी। कहने का आशय यह है कि दक्षिण अफ्रीका में लिया गया सत्याग्रह आन्दोलन ही भारत के चम्पारण में सफलता का मन्त्र बना और एक के बाद एक आन्दोलन होते गये। निश्चित तौर पर चम्पारण के जंगलों से आच्छादित चम्पारण क्षेत्र को मुसीबतों से मुक्ति मिली। चम्पारण सत्याग्रह ने पूरब के केवल किसानों को ही बल दिया, बल्कि नौजवान, कामगार, बूढ़े, स्त्रियों, बालकों सभी की चेतना को राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित किया जिससे आगे आजादी की लड़ाई को मजबूती मिली। तभी से अंग्रेजों के मन में यह भय उत्पन्न हो गया और आन्तरिक व्यवस्थाएँ भी गोपनीय तरीके से सिमटने लगीं, हालाँकि जलियावाला बाग की घटना ने देश को जरूर झकझोर दिया था। लेकिन बदलती वैश्विक व्यवस्थाओं और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दबाव के आगे नतमस्तक होना पड़ा। इसी में भारती की आजादी में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न परिस्थितियों में खाद का काम किया और १९४७ में भारत को आजादी की हवा मिली। सौ वर्ष पहले किया गया चम्पारण सत्याग्रह आज भी अपनी यादें संजोये हुये है। लेकिन आजाद भारत में अब नगदी फसल गन्ना की खेती को लेकर जिस तरह किसान टूट रहे हैं, उन्हें फिर किसी ऐसे ही महात्मा की तलाश है, जो अवतार लेगा और चम्पा अरण्य सुख-सुविधाओं से लहरायेगा।

पाद टिप्पणी

१. आनन्द कुमार, चम्पारण सत्याग्रह नेट एडीशन।
२. सत्य के मेरे प्रयोग-मो.क.गाफ., धीरत पॉकेट बुक्स दिल्ली रोड, 'मेरठ।
३. आनन्द कुमार, चम्पारण सत्याग्रह नेट एडीशन।
४. राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, मारुति प्रकाशन, मेरठ-२
५. सत्य के मेरे प्रयोग-राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
६. गाँधी को फाँसी दो-राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

अग्निपुराण में प्रतिपादित वर्ण एवं जाति व्यवस्था

सुचिता यादव
शोध छात्रा,
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-११००६७

भारतीय वाङ्मय में संस्कृति, सभ्यता एवं समाज के आधारस्वरूप नियमों, परम्पराओं, प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों को मानव के शैक्षिक एवं दैनिक जीवन प्रणाली में स्थापित करने में पुराण वाङ्मय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में सूत्रशैली में प्रतिपादित ज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने का महान् कार्य पुराणों द्वारा ही सम्भव हो सका है। इसी कारण पुराणों को वेदों का उपबृंहण कहा गया है। अष्टादश महापुराण तथा अष्टादश उपपुराण, आख्यान, उपाख्यान, गाथा एवं कलपशुद्धि इत्यादि विद्यारूपी शाखाएँ सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित के माध्यम से ज्ञान को सर्वसाधारण जन के लिए कथा प्रवचनों के माध्यम से प्रचारित एवं प्रसारित कर रहे हैं, इसीलिए वैदिक परम्परा में पुराणेतिहास को पञ्चम वेद माना गया है।[१] श्रीमद्भगवद्पुराण में अष्टादश महापुराणों की गणना इस प्रकार की गई है—

> **"ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुणम्।**
> **नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्।।**
> **भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।**
> **वाराहं मात्स्यं कौर्मञ्च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्।।"**[२]

अष्टादश महापुराणों की सूचियों में अग्निपुराण 'अग्नि या आग्नेय' नाम से उपलब्ध होता है। आग्नेय का अर्थ है अग्नि से सम्बन्धित या अग्नि द्वारा प्रोक्त। भगवान् अग्निदेव ने महर्षि वशिष्ठ को यह पुराण श्रुति परम्परा द्वारा सुनाया था इसीलिए अग्निदेव के नाम ये यह अग्निपुराण या आग्नेयपुराण कहलाता है।[३] इन महापुराणों में अग्निपुराण का आठवाँ स्थान है। अग्निपुराण में उल्लिखित किया गया है कि ब्रह्म आदि अठारह महापुराण श्री हरि विष्णु की ही विद्याएँ हैं अर्थात् श्रीहरि ही अग्निपुराण में विद्यारूप में अवस्थित हैं।[४] अग्निपुराण में समस्त परा अपरा विद्याओं का सार समन्वि्त कर दिया गया है। अत: पुराणकार ने स्वयं कहा है कि—

"आग्नेये हि पुराणेस्मिन् सर्वा विद्या समन्विताः।।"[५]

अग्निदेव द्वारा प्रोक्त इस अध्याय में ३८३ अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या प्रकाशित अग्निपुराण के विभिन्न संस्करणों में लगभग १२००० हैं। अग्निपुराण में स्वयं १२००० श्लोकों को माना है।[६] इस पुराण में परा-अपरा विद्याओं का वर्णन, महाभारत एवं रामायण की संक्षिप्त कथा, मत्स्रूकूर्मादि विष्णु की विभिन्न अवतारों की चर्चा, सृष्टि वर्णन, दीक्षा विधि, व्रत, दान, तीर्थयात्रा, भारतवंश इत्यादि वर्णन के साथ-साथ समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, ज्योतिशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से भारतीय समाज के संरचनागत आधारभूत इकाई वर्ण तथा जाति व्यवस्था को अग्निपुराण तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित करने का प्रयास किया जायेगा।

अग्निपुराण में प्रतिपादित सामाजिक संरचना एवं

संगठन के नियामक तत्त्वों का वर्णन प्रायः स्मार्त परम्परा से प्रभावित है। इसके विषय में स्वयं अग्निपुराण में बीस धर्मशास्त्रकारों का नामोल्लेख करते हुए कहा है कि इनके द्वारा कहे गये धर्म का ही वर्णन इस पुराण में किया गया है—

**"मनुर्विष्णुर्याज्ञवल्क्यो हारीतोऽत्रिर्यमोऽङ्गिरा ।
वशिष्ठदक्ष संवर्तशातातपपराशराः ।।
आपस्तम्बोशनोव्यासाः कात्यायनबृहस्पति ।
गौतमः शङ्खलिखितौ धर्मतेते यथाऽब्रुवन् ।।
तथा वक्ष्ये समासेन भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु ।"[७]**

प्राचीन परम्परा में समाजशास्त्रीय विषय यथा वर्ण, जाति, आश्रम, संस्कार, विवाह इत्यादि का धर्मशास्त्रीय विषय के नाम से ही अध्ययन प्राप्त होता है, परन्तु आधुनिक समय में इन विषयों का अध्ययन एक पृथक् विद्या समाजशास्त्र नामक शाखा के अन्तर्गत किया जाने लगा है। अतः दोनों परिप्रेक्ष्य में वर्ण तथा जाति व्यवस्था का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा। भारतीय समाज को योजनाबद्ध रूप में व्यवस्थित तथा सुंसगठित करने में सामाजिक संस्थाओं यथा वर्ण, एवं जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन सामाजिक संस्थाओं का विकास तत्कालीन भारतीय समाज को सुनियोजित कर रहा था, जब विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अपने प्रारम्भिक अवस्था में विद्यमान थी।

वर्ण की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं स्वरूप–

सामान्यतः वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति वृ धातु एवं घञ् प्रत्यय की गई है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'रंग' होता है। आचार्य यास्क ने वर्ण की उत्पत्ति 'वृञ्' धातु से माना है—वर्णो वृणोतेः। इसका अर्थ है वरण करना अथवा चुनाव करना।[८] आप्टे महोदय ने अपने शब्दकोष में वर्ण शब्द का अर्थ रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य, श्रेणी, कबीला, जाति, वंश तथा जनजाति बताया है।[९] ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द 'रंग या प्रकाश या जनसमूह' अर्थ में आया है। ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है कि इन्द्र ने दास रंग को गुहा अर्थात् अन्धकार में रखा।[१०] इसका तात्पर्य है कि ऋग्वैदिक काल में वर्ण शब्द का अर्थ श्याम या श्वेत रंग के जनसमूह से लिया जाता था। तत्कालीन समाज में आर्य नामक जाति दास्युओं को पराजित करके साम्राज्य करने लगे थे। ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में वर्णन प्राप्त होता है कि इन्द्र द्वारा वज्र से दास या दस्युओं का संहार किया गया। अतः श्वेत वर्ण विजयी आर्यों के लिए तथा श्याम वर्ण दासों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। इन्हीं पराजित अनार्यों अर्थात् दस्युओं को शूद्र जाति की संज्ञा दी गई। शूद्र आर्यों की सेवा में लगे रहते थे, अतः 'विशः' की संज्ञा भी दी गई जिसका अर्थ होता है सेवा करने वाला। अपितु वर्ण शब्द केवल आर्य और दास से ही सम्बन्धित था। यद्यपि ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरस्थ तथा पाद में क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद में बाद में जोड़ा गया है, परन्तु मैक्समूलर, जैकोबी इत्यादि विद्वान इस मत को नहीं मानते हैं, उनका मानना है कि पुरुषसूक्त इत्यादि सूक्तों के मन्त्रद्रष्टा प्रायः वही ऋषि हैं, जिन्होंने ऋग्वेद के अन्य सूक्तों का वर्णन किया है, अतः इस मत सामान्यतः विरोधाभास प्रतीत होता है। परन्तु ऋग्वैदिक काल में वर्ण शब्द का प्रयोग कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए प्राप्त नहीं होता है।

ब्राह्मणकाल तक वर्ण व्यवस्था सुदृढ़ रूप से व्यवस्थापित हो चुकी थी। यथा—तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि ब्राह्मण दैवी वर्ण है तथा शूद्र असूर्य वर्ण है। यहाँ असूर्य का अर्थ शूद्र जाति से है।

"ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्तो न्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असूर्यः शूद्रः।।"[११]

तैत्तिरीयब्राह्मण में एक अन्यत्र स्थान पर वर्णोत्पत्ति का वर्णन करते हुए उल्लेख किया गया है कि वैश्य ऋक मन्त्रों से, क्षत्रिय यजुर्वेद से, तथा ब्राह्मणों का उद्गम सामवेद से हुआ है।[१२] तथा यह भी उल्लिखित किया गया है कि वैश्य ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से पृथक् रहते थे।[१३] ब्राह्मण काल में वर्ण व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो गई थी कि देवताओं में भी विभाजन हो गया था। यथा अग्नि एवं बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे, इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय थे, वसु, रुद्र, विश्वदेव एवं मरुत विश् थे, तथा पूषा शूद्र थे। इसी प्रकार यह भी वर्णन प्राप्त होता है कि ब्राह्मण बसन्त ऋतु, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु, वैश्य वर्षा ऋतु हैं और साथ ही इनके यज्ञ सम्पादन के समय का भी वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य को क्रमशः बसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु एवं शरद् ऋतु तथा वैश्य को वर्षा ऋतु में ही यज्ञ करना चाहिए।[१४]

कुछ विद्वानों के अनुसार सूत्रकाल ई.पू. ६०० से ई. पू. ३०० तक का काल श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र का था। गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र में सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों का वर्णन प्राप्त होता है। इन सूत्रों में वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी अवरोध इनमें होने वाले विधि विधानों के द्वारा होता था। सूत्रकाल में प्रथम बार द्विजन्मा शब्द की निष्पत्ति हुई थी, जिसका अर्थ है द्वितीय जन्म। जिसमें उपनयन द्वारा मनुष्य का द्वितीय जन्म माना जाता था। इस काल में प्रथम तीन वर्णों को ही उपनयन संस्कार कराने का अधिकार था। उपनयन के अवसर पर प्रथम तीन वर्णों के लिए क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द से उत्पन्न होने के कारण सविता देवता की उपासना करने का वर्णन प्राप्त होता है। शूद्रों को किसी भी छन्द से छन्द से उत्पन्न ना मानकर इनका उपनयन नहीं कराया जाता था। इसका उल्लेख वशिष्ठ धर्मसूत्र में मिलता है—

गायत्र्यां ब्राह्मणसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्यां वैश्यम्। केनचिच्छन्दसा शूद्रम् इत्यसंस्कार्यो विज्ञायते ।।[१५]

गौतमधर्मसूत्र में इन वर्णों के कर्मों में भी विभाजन का उल्लेख प्राप्त होता है—**"द्विजातीयाना-मध्यनमिज्या दानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः-प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः राज्ञोधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्। वैश्याधिकं कृषि वणिक-पशुपाल्यकुसीदम्। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जाति परिचर्या चोत्तरेषां तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत्।"**[१६]

महाकाव्यकाल में वर्णों के बीच श्रेणीगत भावना का विकास हो चुका था। इस काल में वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति पर बल दिया गया, जिससे इस व्यवस्था में अवरोध ना उत्पन्न हो। गीता में वर्णव्यवस्था को गुण तथा कर्मों पर अवलम्बित बताया गया है—

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतपः।
कर्माणिप्रविक्तानि स्वाभावप्रभवैर्गुणैः ।।"[१७]

रामायणकाल में सभी वर्णों के कर्म निर्धारित हो चुके थे। इस काल में उच्च वर्णों की सेवा विभिन्न वर्णों का धर्म बन गया था। विभिन्न वर्णों के कर्तव्य तथा अधिकार निर्धारित थे।[१८] महाभारत के अश्वमेधिक पर्व में विभिन्न वर्णों में पाये जाने वाले गुणों का भी वर्णन किया है।[१९]

पौराणिक काल में भी वर्णों के परम्परागत दैवी उत्पत्ति को महत्ता दी गई। विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने यज्ञ के कर्मानुष्ठान हेतु यज्ञ के साधन रूप में चार वर्णों की रचना की।[२०] गरुड़ पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए क्रमशः ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, मारुतलोक तथा गान्धर्वलोक का वर्णन प्राप्त होता है। ये चारों वर्ण समाज के विभिन्न पक्ष के प्रतिनिधि थे। ब्राह्मण पठन-पाठन से बौद्धिक जीवन का, क्षत्रिय शत्रु को जीतकर जय प्राप्त करने से राजनैतिक जीवन का, वैश्य कृषि पशुपालन तथा धन सुख से आर्थिक जीवन का तथा शूद्र विष्णु

भक्ति के साथ ही सेवा धर्म से समाज का हितैषी था।[२१]

अग्निपुराण के अनुसार मौञ्जीबन्धन के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का उपनयन संस्कार किया जाता था अत: इन्हें द्विजाति कहा जाता था। अग्निपुराण में वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ उनके कर्मों का वर्णन किया गया है। इस पुराण में स्वयं कहा गया है कि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों द्वारा उपदेशित वर्णाधर्मों का वर्णन किया गया है, जो वासुदेव को प्रसन्न करने वाले हैं।[२२]

अग्पिुराण में प्रथमत: सभी वर्णों के सामान्य धर्म अहिंसा, सत्यवचन, जीवानुग्रह, तीर्थानुसरण, दान, ब्रह्मचर्य, अमत्सर, देवद्विजाति तथा गुरुओं शूश्रुषा, धर्मश्रवण, पितृपूजन, नित्य नृपति भक्ति, सच्छास्त्रों का अध्ययन, अनृशस्य तितिक्षा तथा आस्तिकता का पालन करने का विधान बतलाया गया है।[२३] इसके अतिरिक्त सभी वर्णों के सामान्य तथा विशेष कर्म बतलाए गए हैं, यथा—[२४]

इन चारों वर्णों के कर्तव्यों के आधार पर निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वेदविद्या और अन्य शास्त्रों के अध्यापन तथा समाज को धर्मोपदेश करने का अधिकार ब्राह्मणों को ही था। इन्हीं ब्राह्मणों में ऋषि मुनि, धर्मवेत्ता, धर्माचार्य थे। ब्राह्मण ऋषिगण ही धर्म का संरक्षण करते हुए निरंकुश राजाओं पर अंकुश लगाते थे। हजारों वर्षों से समाज में शिक्षा-दीक्षा का कार्य इनके गुरुकुलों तथा आश्रम में होता आया है। क्षत्रियों ने विश्व पर अपना अधिकार कर वहाँ भारतीय विचार दर्शन तथा भारतीय विद्याओं का प्रसार किया। वैश्यों द्वारा राष्ट्र को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाया गया है। शूद्रों के द्वारा द्विजाति की सेवा तथा शिल्पकर्मों को करने से समाज में अनेक शिल्पी जातियों का उद्गम हुआ। इनके कर्तव्यों के आधार पर इन चारों वर्णों में स्तर भिन्नता प्रदर्शित होती हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में क्रशम: वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ समझे जाते थे। इनमें भी ब्राह्मणों का वर्चस्व प्रबल था इसका प्रमाण अग्निपुराण में राजा द्वारा राज्य में अपराध

ब्राह्मण के कर्म	क्षत्रिय के सामान्य कर्म	क्षत्रिय के विशेष कर्म	वैश्य के सामान्य कर्म	वैश्य के विशेष कर्म	शूद्र के कर्म
यजन, याजन दान देना वेदों का अध्यापन प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना, वेदों का अध्ययन या स्वाध्याय	दान देना अध्ययन करना तथा यजन करना	प्रजापालन, तथा दुष्टनिग्रह	दान देना, अध्ययन करना तथा यजन करना	कृषि, गोरक्षा, तथा वाणिज्य	द्विजाति शुश्रूषा, तथा सभी प्रकार के शिल्प कार्य करना

करने पर दण्ड की वरीयता के आधार पर मिलता है, यथा अग्निपुराण में कहा गया है कि—

"शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्यस्य द्विशतं समः, शूद्रस्य वधमर्हति ।।
पञ्चाशत ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्य वाप्यर्द पञ्चाशच्छूद्रे द्वादशोः दमः ।।
क्षत्रियस्याप्नुयाद् वैश्यः साहसं पूर्वमेव तु।
शुद्रः क्षत्रियमाक्रुश्य जिह्वाच्छेनमाप्नुयात् ।।"[२५]

ब्राह्मण से द्वेष करने वाले क्षत्रिय तथा वैश्य पर क्रमशः सौ पण तथा दो सौ पण का दण्ड का विधान किया गया है। शूद्रों के द्वारा ब्राह्मणों को अपमानित करने पर वध अर्थात् मृत्युदण्ड की व्यवस्था की गई है। इसकी अपेक्षा ब्राह्मणों के लिए बहुत अल्प दण्ड की व्यवस्था का प्रावधान किया गया था—ब्राह्मण यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अपमानित करे तो उसे क्रमशः ५० पण, २५ पण तथा १२ पण के आर्थिक दण्ड का विधान किया गया था। इसके अतिरिक्त वैश्य यदि क्षत्रिय को अपमानित करे तो उसे प्रथम साहस अर्थात् २५० पण का दण्ड देना चाहिए और शूद्र क्षत्रिय को अपमानित करे तो उसकी जीभ काट लेने जैसे शारीरिक दण्ड का उल्लेख किया गया है, जो Modem Hindu Law, IPC 1860 के अनुसार जघन्य अपराध माना गया है। अग्निपुराण के अनुसार वैश्य और शूद्र के शारीरिक और आर्थिक दण्ड से प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में जातिवाद की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी।

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति–

प्राचीनकाल में कुछ जातियों का वर्णन प्राप्त होता है जो प्रायः इन्हीं चारों वर्णों के परस्पर विवाह सम्मिलन से उत्पन्न हुई है। पी.वी. काणे महोदय के अनुसार—सभी धर्मशास्त्रकार चारों वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इसी क्रम में रखते हैं। उनका मानना है कि एक उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण में विवाह कर सकता है, परन्तु एक निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्च वर्ण में विवाह नहीं कर सकता है। कतिपय स्मृतिकारों द्वारा एक तीसरे मत की भी स्थापना की गई है कि एक ही वर्ण के माता और पिता से जब कोई सन्तान उत्पन्न होती है तो वह माता की जाति का माना जायेगा। जब एक उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति अपने निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह करता है तो वह अनुलोम विवाह माना जाता है तथा उससे उत्पन्न सन्तान अनुलोम कही जाती है, किन्तु जब एक उच्च वर्ण की स्त्री जब निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह करती है तो वह प्रतिलोम विवाह कहा जाता है व उससे उत्पन्न सन्तान प्रतिलोम कही जाती है।[२६] अग्निपुराण में भी इसी व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए अनुलोम विवाहों से उत्पन्न संतानों की सामाजिक स्थिति के विषय में कहा गया है कि अनुलोम विवाहों से उत्पन्न संतति माता की जाति के समान होती है।[२७] इस सन्दर्भ में स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में विपरीत मत मिलते हैं, जैसे कि बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि एक पुरुष अपने समीप वाली निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह करता है तो उसकी संतान पिता के वर्ण का माना जायेगा।[२८] गौतम धर्मसूत्र में उल्लेख किया गया है कि एक ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री की संतान ब्राह्मण होगी[२९] परन्तु क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री तथा वैश्य पुरुष तथा शूद्र स्त्री के साथ ऐसी स्थिति नहीं पायी जाती है। जबकि प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतानों के वर्णों के अलग-अलग नाम दिए गये हैं, जिन्हें वर्णसंकर कहा गया है।[३०] चारों वर्णों का कर्तव्य था कि वह अपने निर्धारित स्वकर्मों का पालन करते रहें। अपने स्वधर्मों के पालन यथा युद्ध या प्राण रक्षा इत्यादि में यदि अपने प्राणों का उत्सर्ग

करना पड़े तो वह भी श्रेयस्कर ही है, परन्तु कुछ पतित कर्म भी मनुष्य को जाति भ्रंश बना देती है, इसका वर्णन अग्निपुराण में करते हुए कहा गया है कि वर्ण संकर करना तथा शूद्रों की सेवा करना अपात्रीकरण पतित माना गया है।[३१] इसके साथ ही इनके प्रायश्चित का विधान करते हुए कहा गया है कि संकरीकरण अथवा अपात्रीकरण करने पर एक मास तक चान्द्रायण व्रत करने से शुद्धि होती है।[३२]

अग्निपुराण में प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न कतिपय संकर जातियों का वर्णन किया गया है, यथा—[३३]

१. ब्राह्मण स्त्री तथा क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न संतान—**सूत**

२. ब्राह्मण स्त्री तथा वैश्य पुरुष से उत्पन्न संतान—**देवल**

३. ब्राह्मण स्त्री तथा शूद्र पुरुष से उत्पन्न संतान—**चाण्डाल**

४. क्षत्रिय स्त्री तथा वैश्य पुरुष से उत्पन्न संतान—**मागध**

५. क्षत्रिय स्त्री तथा शूद्र पुरुष से उत्पन्न संतान—**पुक्कस**

६. वैश्य स्त्री तथा शूद्र पुरुष से उत्पन्न संतान—**आयोगव**

अग्निपुराण के मतानुसार प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न प्रतिलोम पुत्रों की संख्या हजारों में है। अतः पुराणकार का मानना है कि विवाह समान वर्णों में ही होना चाहिए न कि उत्तम वर्ण में और ना ही अधम वर्णों में करना चाहिए।[३४] जबकि वर्तमान समय में **विशेष विवाह अधिनियम १९५४** ने समाज को एक परिवर्तन की ओर प्रेरित किया है। इस अधिनियम के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियों एवं धर्मों के बीच विवाह को मान्यता मिल गयी है। इस प्रकार के अधिनियम प्रभावी होने से समाज में सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।

जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं यथा समाजशास्त्रीय रिजले ने जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भिन्नताओं के कारण, नेशफील्ड तथा इबेट्सन ने व्यसाय को, अब्बे डुबायस ने ब्राह्मणों की प्रदत्त भूमिका को तथा हट्टन ने माना के सिद्धान्त को जाति की उत्पत्ति का प्रमुख कारण माना है। आधुनिक समाजशास्त्रीय विद्वान घुर्ये, श्रीनिवास, मेयर आदि द्वारा तर्कपूर्वक कहा गया है कि जाति 'वर्ण' का ही विकसित रूप है जो प्राचीन भारत में वर्ग के रूप में प्रारम्भ हुए थे तथा धीरे-धीरे धार्मिक मान्यता मिल गयी। इन्हीं धार्मिक मान्तयओं के कारण जाति व्यवस्था में निम्न स्तर की जातियाँ उच्च स्तर की जातियों की प्रथाओं व धार्मिक क्रिया कलापों को अपनाकर समाज में अपनी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। आधुनिक समाजशास्त्री **बूगल (१९५८)** ने जाति की तीन तत्त्व बताये हैं—वंशानुगत विशेषता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षण व विरोध। **होकार्ट (१९५०)** धार्मिक क्रियाकलाओं की पवित्रता एवं अपवित्रता पर बल दिया है। अतः एक इकाई के रूप में जाति की निम्न विशेषताएँ हैं वंशानुगत सदस्यता, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय तथा जाति समितियाँ, जबकि व्यवस्था के रूप में जाति की निम्न विशेषताएँ हैं : श्रेणीक्रम, खान-पान पर प्रतिबन्ध, शारीरिक तथा सामाजिक दूरियों पर प्रतिबन्ध।[३५] उपर्युक्त मतों से निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकालीन वर्ण तथा जाति व्यवस्था को आधार रूप में आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा समाजशास्त्र नामक नवीन विधा में पृथक रूप में अध्ययन किया जा रहा है।

संकर जातियों के कर्तव्य—

अग्निपुराण में इन वर्णसंकर जातियों के कर्तव्यों का भी वर्णन किया गया है—[३६]

1. **चाण्डाल**—वध करने योग्य अर्थात् मृत्युदण्ड

प्राप्त अपराधी का वधन करना चाण्डाल का कर्म बतलाया गया है। चाण्डाल को ग्राम से बाहर निवास करना चाहिए, मुर्दे का वस्त्र धारण करना चाहिए, तथा दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं करना चाहिए।[37]

2. **वैदेहक**—स्त्रियों के जीवन की रक्षा करना वैदेहक का कर्तव्य कहा गया है।
3. **सूत**—सूतों का कार्य अश्वों के रथ में सारथि का काम करना है।
4. **पुक्कस**—आखेट करना पुक्कस का कार्य बताया गया है।
5. **मागध**—मागध का कार्य स्तुति करना था।
6. **आयोगव**—रंगावतरण तथा शिल्प कार्य करना आयोगव का कर्तव्य कहा गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में वर्णसंकर जातियों के बहिष्कार तथा अस्पृश्यता की भावना विद्यमान थी। समाज में वर्णसंकर जातियों को हेयदृष्टि से देखा जाता था। परन्तु आधुनिककाल में निम्न वर्ण तथा जातियों के मध्य अस्पृश्तया को दूर करने के लिए विधि द्वारा **अस्पृश्यता निवारण अधिनियम १९५५** लागू किया गया, जो बाद में संशोधित होकर **नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम १९७६** के रूप में जाना जाता है। इस अधिनियम के द्वारा किसी भी रूप में अस्पृश्यता का व्यवहार करने, अस्पृश्यता के आधार पर किसी प्रकार की आयोग्यता लाने तथा अस्पृश्यता के पक्ष में प्रचार प्रसार करने पर इसे दण्डनीय अपराध मानते हुए व्यक्ति को कठोर दण्ड का विधान किया गया है।

वर्ण तथा जाति में सामान्य भेद

सामान्यत: वर्ण तथा जाति का प्रयोग समान अर्थ में होता है, परन्तु दोनों के अर्थों में अन्तर भी पाया जाता है, यथा वर्ण की धारणा मूलत: वंश, संस्कृति, स्वभाव एवं व्यवसाय पर आधारित है, इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक होता है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल न देकर कर्तव्यों, समाज, या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल दिया गया है। इसके विपरीत जाति व्यवस्था में जन्म या आनुवांशिकता पर बल दिया जाता है और कर्तव्यों की अपेक्षा विशेषाधिकारों का प्रभुत्व निर्मित होता है। वैदिक काल में जाति का आधुनिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। निरुक्त (१२/१३) में 'जाति' शब्द जाति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनु ने (१०/२७/३१) वर्ण शब्द को मिश्रित जातियों के अर्थ में प्रयुकत किया है और कहीं कहीं इसका प्रयोग 'जाति' अर्थ में किया है।

अग्निपुराणकालीन समाज में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप मात्र चातुर्वर्ण्य तक की सीमित नहीं था, अपितु अनेक वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति हो चुकी थी, जिससे समाज में अस्पृश्यता, ऊँच-नीच की भावना, तथा पारस्परिक विषमता उत्पन्न हो गयी थी। वर्तमान समय में भी अनेक जातियाँ हैं, जो अस्पृश्यता, विषमता की स्थिति में हैं किन्तु अद्यावधि इनकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, वर्तमान समय में संविधान द्वारा इन्हें शिक्षा, समानता तथा संरक्षण का अधिकार प्राप्त है, जिससे ये अपना जीवन निर्वाह सुचारू रूप से सम्पन्न करने में सक्षम हैं। यद्यपि वर्तमान समय में भी इन जातियों के प्रति भेद भाव की स्थिति बनी हुई है, कतिपय ऊँची जातियों द्वारा इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु साक्षात् रूप से इनसे भेदभाव की स्थिति कम हुई है। अद्यावधि शिक्षा के क्षेत्र में, व्यवसाय के क्षेत्र में, तकनीकी शोध की दिशा में वर्ण तथा जाति को गुण के आधार पर अवसर प्रदान किये जाने लगे हैं, जिससे

प्राचीन परम्परागत वंशानुगत, जन्मगत शिक्षा, व्यवसाय तथा कर्मों का समापन हुआ है।

निष्कर्षत: प्राचीनकाल में पुराणों, स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों में वर्ण तथा जाति व्यवस्था एक जटिल प्रक्रिया थी, यद्यपि वर्ण एवं जाति समाज को एक संगठित स्वरूप प्रदान करने में अपनी प्रदत्त भूमिका का निर्वाह करती है, परन्तु इसके जटिल अविश्वासपूर्ण नियमों के कारण भारतीय समाज में एक विभिन्नतापूर्ण स्तर निर्मित हो गया था। अद्यावधि वर्ण तथा जाति का स्वरूप पूर्णत: परिवर्तित दिखाई देता है, वर्तमान समय में जाति सम्बन्धी नियमों में शिथिलता आयी है। एतत्कालीन समाज में जाति एक बन्धन न होकर इकाई बन गई है और यह वंशानुगत न होकर गुणों पर आधारित व्यवस्था बन गई है। भारत में जाति व्यवस्था एक गतिशील संस्था के रूप में मानी जाती है, जो समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है और आगे भी परिवर्तित होती रहेगी, अत: भारतीय समाज में वर्ण तथा जाति व्यवस्था सम्पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. "इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ।।"
छान्दोग्योपनिषद् ७/१/२

२. श्रीमद्भागवदमहापुराण १२/७/२३-२४

३. "अग्निना यद् वसिष्ठाय प्रोक्तश्चाग्नेयमेव तत्। अग्निपुराण २७२/१०

४. "ब्राह्मदीनि पुराणानि हरिविद्या दशाष्ट च ।
महापुराणे ह्याग्रेये विद्यारूपो हरि: स्थित: ।।"
वही. २७१/१३

५. वही. ३८३/५१

६. "द्वादशैव सहस्राणि सर्वविद्यावबोधनम् ।"
वही. २७१/११

७. वही. १६२/१-३

८. निरुक्त ३/२

९. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश पृ. ९०२

१०. "यो दासं वर्णमधरं गुहा क: ।" ऋग्वेद २/१२/४

११. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/२/६

१२. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहु: । यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम् ।।
सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूति: ।।" वही. ३/१२/९

१३. "तस्माद् ब्राह्मणश्च विशन्यतोऽपक्रमणी: ।।"
वही. १/६/५

१४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, भाग-१, पृ.सं. ११४-११५

१५. वशिष्ठ धर्मसूत्र

१६. गौतमधर्मसूत्र १०/१/२-५

१७. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/४१

१८. "क्षत्रं ब्रह्ममुख चासीद्वैश्या: क्षत्रमनुव्रता: ।
शूद्रा: स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिण: ।।" वाल्मीकि रामायण १/६/१९

१९. "तम: शूद्रे रज: क्षेत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् ।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रय: ।।" महाभारत, आश्वमेधिक पर्व ३९/११

२०. "यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकारावै।
चातुर्वर्ण्य महाभाग यज्ञासाधनमुत्तमम् ।।"
विष्णुपुराण १/५/७

२१. गरुड़ पुराण १/१५/१६०

२२. "वर्णाश्रमेतराणां ते धर्मन्वक्ष्यामि सर्वदान ।
मन्वादिभिर्निगदितान्वासुदेवादितुष्टिदान् ।।"
अग्निपुराण १५१/२

२३. "अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेश्वनुग्रह: । तीर्थानुसरणं दानं ब्रह्मवचर्यमत्सर: ।
देवद्विजातिशुश्रूषा गुरूणां च भृगुत्तम् । श्रवणसर्वधर्माणां पितृणां तथा ।।
भक्तिश्च नृपतौ नित्यं तथा सच्छास्त्रनेत्रता । आनृशंस्यं तितिक्षा च तथा चाऽऽस्तिक्तमेव च ।।"
वही. १५१/३५

२४. "यजनं याजनं दानं वेदाद्यध्यापनक्रिया । प्रतिग्रहं चाध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेत् ।
दानमध्ययनं चैव यजनं च यथाविधि । क्षत्रियस्य सवैश्यस्य कर्मेदं परिकीर्तितम् ।
क्षत्रियस्य विशेषेण पालनं दुष्टनिग्रहः । कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यस्य परिकीर्तितम् ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्व शिल्पानि वाऽप्यथा ॥"

वही. १५१/६-९

२५. वही २२७-२३-२५

२६. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी.काणे, भाग १-पृ. ११८

२७. "अनुलोम्येन वर्णानां जातिर्मातृसमा स्मृता ॥"

अग्निपुराण १५१/१०

२८. "तासु पुत्रास्सवर्णानन्तरासु सवर्णाः ॥"

बौधायन धर्मसूत्र १/८/६

२९. "अनुलोमा अनन्तरैकान्तरद्वयन्तरासु जाताः ।
सवर्णाम्बष्ठोऽग्रनिषाडदौष्मन्तपारशवः ॥"

गौतम धर्मसूत्र ४/१४

३०. "संकरे जातयो ज्ञेया पितुर्मातुश्च कर्मतः ॥"

वही. १५१/१८

३१. जातिभ्रंशकरं स्मृतम् । संकीणकरणं ज्ञेयं मीनाहिनकुलस्य च ।
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥"

वही. १६८/३८-१, ३९, ४०-१

३२. "जातिभ्रंशसकरं कर्म कृत्वाऽन्यतमनिच्छया । चरेत् सांतपनं कृच्छं प्राजापत्यमनिच्छया ॥
संकरीपात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥"

वही. १६९/२३-२४

३३. "चण्डालो ब्राह्मणीपुत्रः शूद्राञ्च प्रतिलोमतः । सूतस्तु क्षत्रियाज्जातो वैश्याद्वै देवलस्तथा ॥
पुक्कसः क्षत्रियापुत्रः शूद्रात्स्यात्प्रतिलोमजः । मागधः स्तात्तथा वैश्याच्छूद्रादायोगवो भवेत् ॥
वैश्यायां प्रतिलोमेभ्यः प्रतिलोमाः सहस्रशः ॥"

वही. १५१/११-१३(१)

३४. "विवाहः सदृशैस्तेषां नोत्तमैर्नाधमैस्तथा ॥" वही. १५१/१३(२)

३५. भारतीय सामाजिक व्यवस्था, राम आहूजा, पृ. सं. २१४, २२०

३६. "चण्डालकर्म निर्दिष्टं वध्यानां घातनं तथा । स्त्रीजीवनं तु तद्रक्षा प्रोक्तं वैदेहकस्य च ।
सूतानामश्वसारथं पुक्कसानां च व्याधता । स्तुतिक्रिया मागधानां तथा चाऽऽयोगवस्य च ॥
रङ्गावतरणं प्रोक्तं तथा शिल्पैश्च जीवनम् ॥"

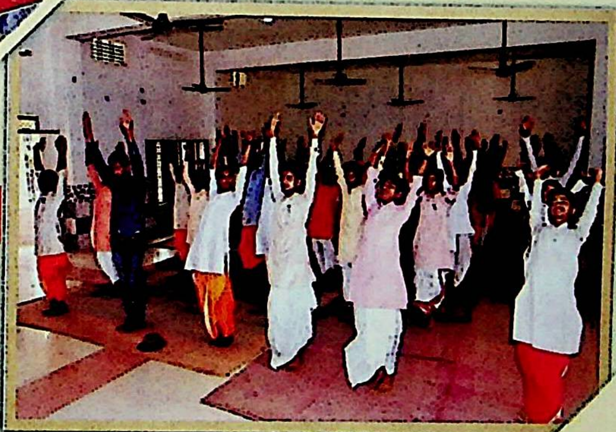
वही. १५१/१४-१५

३७. बहिर्ग्रामश्च विवासश्च मृतचेलस्य धारणम् ।
न संस्पर्शस्तथैवान्यैश्चण्डालस्य विधीयते ॥"

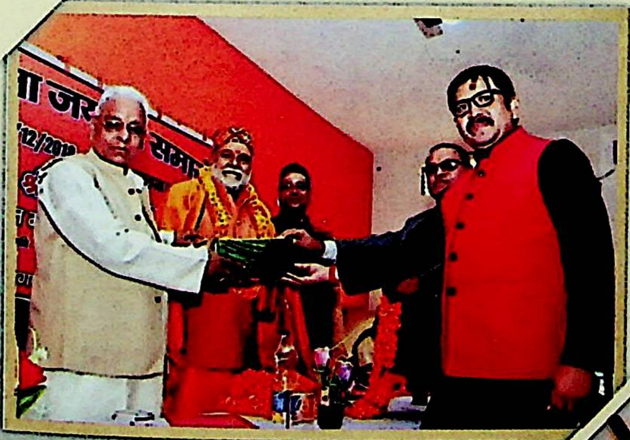
वही. १५१/१६-१७



एकदिवसीय योगशिविर में अभ्यास कराती योग शिक्षिका



योगाभ्यास करते महाविद्यालय के छात्र



गीता जयन्ती दिसम्बर, 2018 को **डॉ. रामानुज त्रिपाठी** (पूर्व वेद विभागाध्यक्ष, श्रीगोरक्षनाथ संस्कृत महाविद्यालय, गोरखनाथ, गोरखपुर) को सम्मानित करते संस्था के अध्यक्ष **श्री जयप्रकाश पाण्डेय**, प्रबन्धक **श्री अग्निवेश मणि**, मन्त्री **श्री गंगेश्वर पाण्डेय**।



गीता जयन्ती समारोह, 2017 के अवसर पर सम्बोधित करते द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी द्वारका, गुजरात के निदेशक महामहोपाध्याय **प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी**, मंचासीन **प्रो. प्रमोद कुमार पाण्डेय**, **प्रो. हरेराम त्रिपाठी** व अन्य



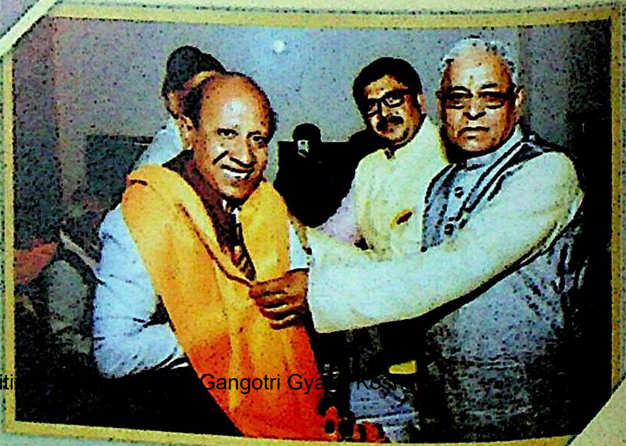
स्वर्ण जयन्ती हाल का लोकार्पण करते प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी व विधायक श्री पवन केडिया, साथ में प्रबन्धक श्री अग्निवेश मणि, मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, शिक्षक नेता श्री जगदीश पाण्डेय।



विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से निर्मित शिक्षण एवम् योग कक्ष का लोकार्पण करते विधायक श्री पवन केडिया



गीता जयन्ती, 2017 के अवसर पर मंचासीन अतिथिगण व सम्बोधित करते म.गॉ.काशी विद्यापीठ, वाराणसी के सेवानिवृत्त प्रो. हरेराम त्रिपाठी



हाटा विधायक श्री पवन केडिया को गीता जयन्ती के अवसर पर सम्मानित करते संस्था के मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय



यज्ञोपवीत के बाद वटुकों के साथ महाविद्यालय के प्रबन्धक श्री अग्निवेश मणि, मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, अध्यक्ष श्री जयप्रकाश पाण्डेय व शिक्षकगण।



सामूहिक यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर वटुकों के साथ प्रबन्धक श्री अग्निवेश मणि, मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, अध्यक्ष श्री जयप्रकाश पाण्डेय, कसया के ब्लाक प्रमुख डॉ. प्रियेश त्रिपाठी, पूर्व प्राचार्य डॉ. रामसुभाष पाण्डेय



निःशुल्क चिकित्सा शिविर में मरीजों को देखते कुर्सी पर बैठे लोकनायक जयप्रकाश मेडिकल कॉलेज, नई दिल्ली के डॉ. पी.एन. पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, न्यूरो विभाग)।



सामूहिक उपनयन संस्कार के अवसर पर मंच पर आचार्यगण श्री विपिनचन्द्र पाण्डेय आदि साथ में संस्था के मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, आयकर पूर्व आयुक्त उ.प्र. श्री रामप्रसाद मणि (पीला जैकेट व टोपी पहने हुए) उनके दाहिने अध्यक्ष श्री जयप्रकाश पाण्डेय।



सामूहिक उपनयन संस्कार के अवसर पर वटुकों के साथ पूर्व आयुक्त आयकर श्री राम प्रसादमणि (पीला जैकेट व सफेद टोपी पहने हुए) व उनके दाहिने श्री गंगेश्वर पाण्डेय, साहित्यविद् नन्दा पाण्डेय (काला जैकेट पहने हुए) तथा पत्रकार उपेन्द्र तिवारी।



प्रो. हरेराम त्रिपाठी व प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी को सम्मानित करते मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय व अध्यक्ष श्री जयप्रकाश पाण्डेय



गीता जयन्ती के अवसर पर महाविद्यालय प्रबन्ध समिति के मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय, द्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी द्वारका, गुजरात के पूर्व निदेशक प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी, प्रो. प्रमोद कुमार पाण्डेय, माध्यमिक शिक्षक संघ के प्रदेश महामन्त्री श्री जगदीश पाण्डेय आदि।



सामूहिक उपनयन संस्कार के अवसर पर वटुकों को भिक्षा प्रदान करते श्री गंगेश्वर पाण्डेय

ऋषिका 'अपाला' का स्वरूप : ऋग्वेद के विशेष सन्दर्भ में

इन्दु डिमोलिया

शोध छात्रा,
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-११००६७

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। वेद शब्द विद् ज्ञान से सिद्ध होता है। अतः वेद का अर्थ है ज्ञान। "वेद्यतेऽनेनेति वेदः" इससे सब-कुछ जाना जाता है, इसलिए इसे वेद कहते हैं। अथवा "वेदयति विश्वपदार्थान् अवगमयतीति वेदः" जो सब पदार्थों का ज्ञान कराता है, वह वेद है। पाणिनि ने तो वेद शब्द में चार धातुओं का प्रयोग किया है—

१. विद् ज्ञाने
२. विद् सत्तायाम्
३. विद् ॡ लाभे एवं
४. विद् विचारणे।

सत्तायां विद्यते ज्ञाने विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्तदति प्राप्तो श्यन्लुक्श्नम्शोष्विदं क्रमात् ।।[१]

वेदों के महान् भाष्यकार सायणाचार्य के द्वारा तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य की भूमिका में दी गई निम्नलिखित परिभाषा में कहा गया है कि जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपायों का ज्ञान कराता है, वह वेद है—

> **"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर् अलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः"**

यहीं पर सायण ने एक अन्य परिभाषा भी दी है, जिसमें कहा गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जिस उपाय को नहीं जाना जा सकता, उसे वेद के द्वारा जाना जाता है, इसी से वेद की वेदता है—

> **"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस् तूपायो न बुध्यते ।**
> **एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता"**

इसका भाव यह है कि किसी पदाथक या वस्तु को जानने के तीन उपाय हैं:—प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद। जिन वस्तुओं अथवा पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं है, उन्हें वेद में विहित ज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेद भाष्य-भूमिका में वेद का विवेचन करते हुए कहा है कि जिनसे सब मनुष्य सत्यविद्या को जानते हैं अथवा प्राप्त करते हैं या विचारते हैं अथवा विद्वान् होते हैं अथवा सत्य-विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं—

विदन्ति जानन्ति-विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथा विन्दन्ते लभन्तरे विन्यन्ति विचारयन्ति-सर्वे मनुष्याः सत्यविद्या यैयेषु व तथा विद्वांस ते वेदा।[२]

वेद को श्रुति, छन्दम्, मन्त्र आदि अनेक नामों से भी पुकारा जाता है—

वेदों की संख्या—संहिताओं में वेदों की संख्या का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में वेदों की संख्या चार बताई गई है और उनके नामों ऋग्, यजु, साम और अथर्व का उल्लेख भी हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। [3]

ऋग्वेदम् एव होतारं वृणीष्व यजुर्वेदविदम् अध्वर्युं सामवेदम् उद्गातरम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। [4]

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। [5]

विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम्....। [6]

इन सभी उदाहरणों में वेदों की संख्या चार बताई गई है।

विष्णु, भागवत, वायु, मत्स्य आदि पुराणों के अनुसार त्रेतायुग के अन्त तक वेद एक ही था। मन्दमति मनुष्यों के ज्ञान अर्जन एवं याज्ञिक अनुष्ठान में सौविध्य को ध्यान में रखते हुए वेदव्यास में इसे चार भागों में विभक्त किया। इस प्रकार एक ही वेदराशि विभाजित होकर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार संहिताओं के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी।

इन संहिताओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भगवान वेदव्यास ने अपने चार सुयोग्य शिष्यों-पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का उपदेश दिया।[7] इनके शिष्यों ने गुरुमुख से अधीत संहिताओं का अपने शिष्यों में प्रचार किया।

ऋग्वेद—यह वेद चतुर्विध संहिताओं में सर्वाधिक गौरव से मण्डित है। ऋक् का अर्थ है—स्तुतिपरक मन्त्र **"ऋच्यते स्तूयतेऽनया इति ऋक्"** जिसके द्वारा देवता विशेष की स्तुति की जाती है उसे ऋक् कहा जाता है। जैमिनीय ने अपने मीमांसा ग्रन्थ में ऋक् को परिभाषित करते हुए कहा है कि—जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादो की व्यवस्था है उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम ही ऋचा या ऋक् है।[8] भाषा भाव और विशेष की दृष्टि से इसे सभी वेदों में प्राचीनतम घोषित किया गया है। जिसके मन्त्र अन्य संहिताओं में भी प्रयुक्त हुए है। समस्त वेदों में सहस्रशीर्ष यज्ञरूपी परमेश्वर से सर्वप्रथम ऋचाओं के आविर्भाव का उल्लेख मिलता है।[9] ऋग्वेद की महनीयता को वैदिक संहिताओं ने भी स्वीकार किया है। तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि साम तथा यजुष के द्वारा किया गया विधान शिथिल होता है किन्तु ऋक् द्वारा विहित अनुष्ठान में दृढ़ता होती है।[10] महाभाष्य महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखा बताई है। **एकविशतिधा बाहवृच्यम्**[11] इनमें से अधिकांशतः काल के गहन अन्तराल में विलुप्त हो चुकी है। परन्तु इनमें से केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हुयी है। जो क्रमशः निम्नवत है—

१. शाकल शाखा

२. वाष्कल शाखा

३. आश्वलायन शाखा

४. शाखायन शाखा

५. माण्डूकायन शाखा

प्रचलित ऋग्वेद शाकल शाखा की संहिता है। इसका विभाजन दो प्रकार से किया गया है।

१. अष्टक क्रम

२. मण्डल क्रम

ऋग्वेदीय ऋषि एवं ऋषिकाएँ—मधुच्छन्दा, मेघातिथि, दीर्घतमा, अगस्तय, गृत्समद एवं उनके वंशज, विश्वामित्र एवं उनके वंशज, वामदेव एवं उनके वंशज, अत्रि ऋषि एवं उनके वंशज, भरद्वाज एवं उनके वंशज, वशिष्ठ ऋषि एवं उनके वंशज, कण्व, भृगु, अंगिरस्, सोम पवमान, त्रित, विमद, इन्द्र, श्रद्धा आदि ऋग्वेदीय ऋषि हैं। मन्त्रदृष्टा ऋषियों के साथ ही नारियाँ भी वैदिक मन्त्रों की दृष्टा थी। ऋग्वेद में २१ ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है तथा इनके द्वारा दृष्ट ऋग्वेद की ऋषिकाओं की सूची बृहद् देवता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार है—

घोषा गोधा विश्वारा, अपालोपनिषन्निषत् ।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः ।।८४।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती ।।८५।।
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः ।।८६।।

अर्थात् घोषा, गोधा, विश्वारा, अपाला, उपनिषद्, निषद्, ब्रह्मजाया (जुहू), अगस्त्य की भगिनी, अदिति, इन्द्राणी और इन्द्र की माता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा और नदियाँ, यमी, शश्वती, श्री, लाक्षा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री और सूर्या-सावित्री आदि सभी ब्रह्मवादिनी हैं। ऋग्वेद के १०-१३४, १०-३९, ४०, १०-९१, १०-९५, १०-१०७, १०-१०९, १०-१५८, १०-१५९, १०-१८९, ५-२८, ८-९१ आदि सूक्तों की मन्त्रदृष्टा ये ऋषिकाएँ हैं।

ऋग्वेद में वर्णित ऋषिकाओं में घोषा का स्थान सर्वश्रेष्ठ था क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार आता है। कन्या होते हुए भी घोषा अपने इच्छानुसार योग्य वर प्राप्त करने में असमर्थ थी, वह श्वेत कुष्ठ रोग से पीड़ित थी। घोषा ने भगवान अश्विनी की प्रशंसा में दो ऋचाओं का निर्माण किया। परिणामस्वरूप उसकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न होकर अश्विनी ने उसे रोग मुक्त कर विवाह योग्य बना दिया। उसका विवाह काक्षीवान जैसे योग्यवर के साथ सम्पन्न हुआ।

उर्वशी ऋषिका इन्द्रलोक की अभिन्न सुन्दरी अप्सरा थी। ऋग्वेद में संकेतित इस आख्यान को शतपथ ब्राह्मण चित्रित करते हुए लिखता है कि जिस पुरूरवा ने श्रांत-अग्नि की स्थापना का रहस्य जानकर याज्ञिक क्रिया का विस्तार किया, उसका उर्वशी नामक अप्सरा से प्रेम होता है। पत्नी बनने से पहले उर्वशी राजा पुरूरवा से कुछ प्रतिज्ञाएँ करवाती है। पत्नी बन जाने पर उर्वशी, राजा द्वारा प्रतिज्ञा भंग होने पर, गन्धर्वों द्वारा राजा पुरूरवा को छोड़ देने के लिए बाध्य कर दी जाती है। उर्वशी जब राजा को छोड़कर चली जाती है, तब राजा उसके विरह-दुःख में व्याकुल होकर कुरूक्षेत्र में इधर-उधर विलाप करता हुआ घूमता रहता है।

एक दिन राजा कमल-पुष्पों से सुसज्जित तालाब में स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित हंसिनीई के रूप में उर्वशी को देखता है। उर्वशी राजा की दयनीय स्थिति देखकर कहती है कि इस वर्ष की अन्तिम रात में तुम मेरे साथ रह सकोगे तभी तुम्हें एक पुत्र होगा। एक वर्ष के बाद दोनों का मिलन होता है तब उर्वशी राजा से कहती है कि प्रात: कुछ गन्धर्व तुम्हारे पास आकर वर माँगने के लिइए कहेंगे, तुम अपनीई अभीष्ट वस्तु उनसे मांग लेना। राजा उर्वशी से ही वर माँगने के लिए पूछता है। उर्वशी राजा से कहती है कि तुम गन्धर्वों से यही वर मांग लेना कि तुम अपने ही समाने मुझे भी गन्धर्व बना लो। गन्धर्वों से राजा जब गन्धर्व होने का वर मांगता है तब गन्धर्व उसे एक अभीष्ट अग्निहोत्र यज्ञ की विधि बताते हैं, जिसके सम्पादन से एक मानव भी गन्धव बन सकता है।

इसी प्रकार अपाला अत्रि ऋषि के कुल की कन्या थी। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से ऋग्वैदिक ऋचाओं की रचना की थी। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ९१वें सूक्त की सम्पूर्ण ७ ऋचाओं का साक्षात्कार किया था। इस सूक्त के ७वें मंत्र में "अपाला" के नाम का भी उल्लेख है।

"शतसंक्ख्यकयज्ञवाले इन्द्र ने अपने रथ के बड़े छिद्र, शकट के (कुछ छोटे छिद्र) और युग (जोड़) के छोटे छिद्र का निष्कर्षण (अपनयन) के द्वारा शोधन करके अपाला को सूर्य के समान, धर्म-युक्त किया था।"

"खे रथस्य खेनसः खेयुगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रत्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।।"

सम्भवतः अपाला चर्मरोग से पीड़ित थी, जिसके कारण पति ने उसका परित्याग कर दिया था। उसने अपनी ऋचाओं द्वारा अनूठे ढंग से भगवान इन्द्र का आह्वान किया, जिसके फलस्वरूप वह रोगमुक्त हो गई जिसका उल्लेख ऋग्वेद के आठवें मण्डल में है। इन्द्र को उसने उनका प्रिय सोमरस पिलाया, जिससे तृप्त एवं प्रसन्न होकर उन्होंने उसे रोग मुक्त कर सुन्दर बना दिया।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि उपर्युक्त सम्पूर्ण सूक्त की ऋषिका अपाला ही हैं। हमारे इस कथन की पुष्टि बृहद्देवता सायण-भाष्य और नीतिमञ्जरी से भी होती है। ऋग्वेदीय इस सूक्त में अपाला के वैदुष्य का पता चलता है, जिसके कारण वैदिक-साहित्य में उसकी ख्याति है। इन्द्र की स्तुतिपरक प्रार्थना, जिसे अपाला ने सूक्त की ऋचाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है, इसका सारांश है—

"हे देव! हम ऋषि कन्याएँ आपका साक्षात्कार करना चाहती हैं परन्तु आपको जानने में असमर्थ हैं। आपकी असीम महिमामयी माया है, जिसके कारण आपको अज्ञेय माना गया है। हे सोम! इन्द्र को प्रसन्न करने के एक मात्र तुम्हीं साधन हो। अतः तुम इन्द्र के लिए धीरे-धीरे प्रवाहित होकर हमारी स्तुतियों को चरितार्थ करो। हम तुम्हें सामर्थ्यवान् इन्द्र के लिए निष्पन्न करती है। जिससे प्रसन्न होकर इन्द्र भगवान् हमें अपाला से सुपाला बना दें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. ऋग्वेदसंहिता, डॉ. जियालाल कम्बोज, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण २००४
२. ऋग्वेद (हिन्दी भाष्य), महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली।
३. ऋग्वेद संहिता, सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता (पाँच भाग), पुण्यपत्तन : वैदिकशोधमण्डल, १९३३-५१।
४. ऋग्वेद संहिता, अनु. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी (१-९ भाग सम्पूर्ण), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण २००३
५. वैदिक वाङ्मय में नारी, सुषमा शुक्ला, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-२००२
६. भारतीय नारी विकास की ओर, डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, मिनर्वा पब्लिकेशन, जोधपुर, प्रथम संस्करण-२००९.
७. वैदिक ऋषिकाएँ, उनका जीवनवृत्त व देन, गजेन्द्र कुमार, अनुराधा प्रकाशन, २०१४.
८. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, डॉ. गजानन्द शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद
९. प्राचीन भारत में नारी, डॉ. उर्मिला प्रकाश मिश्रा, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण-१९८७
१०. वेदों में नारी, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, भारतेन्दु द्विवेदी, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद, कानपुर

विद्यापति साहित्य में काव्य सौष्ठव

विकास पाण्डेय
श्रीनाथ संस्कृत महाविद्यालय
हाटा, कुशीनगर

मधुर कवि विद्यापति को हिन्दी साहित्य का आदि कवि भी कहा जाता है। अपनी मधुरता व सारगर्भित रचना के कारण हिन्दी जगत में इन्हें मैथिल कोकिल के नाम से भी जाना गया और आज भी यह संज्ञा विद्यापति जी के नाम के साथ जुड़ा हुआ है।

इनकी मधुरता का एक दोहा उदाहरण तो यही है कि इनके गीतों में तन्मय चैतन्य महाप्रभु अलौकिक दुनियाँ में खो जाते थे।

साहित्य की गम्भीरता और दूरदृष्टि का सहज अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि एक बार दिल्ली का सुल्तान जब उनके सखा व राजा शिव सिंह को पकड़कर दिल्ली ले गया तो विद्यापति उन्हें छुड़ाने स्वयं दिल्ली गए। सुल्तान को अपना परिचय देते हुए बताया कि वे अदृश्य वस्तु का दृश्य वस्तु के समान ही वर्णन कर सकंते हैं। सुल्तान ने इनकी कवि प्रतिभा की परीक्षा लेनी चाही और सन्दूक में बन्द कराकर कुएँ में लटका दिया और आदेश दिया कि कुढँ के ऊपर जो कुछ हो रहा है, उसका वर्णन करो। उसी समय कोई दासी वहाँ आकर मुँह से आग फूँकने लगी। विद्यापति ने कहा—

''सुन्दरि निहुरि फुंकु आगि।
तोहर कमल भ्रमर मोर देखल मदन उठल जागि''।

विद्यापति की विद्वता से प्रसन्न होकर सुल्तान ने राजा को मुक्त कर दिया। प्रतिभा के धनी विद्यापति का काव्य गम्भीरता व सजीवता से भरा पड़ा है। काव्य मूल्याङ्कन के दो पक्ष अनुभूति और अभिव्यक्ति। इनके अनुभूति पक्ष की मंजिल यशस्विनी कल-कल निनाद करती हुई प्रवाहित है तो अभिव्यक्ति पक्ष की पूर्ण साज-सज्जा भी है।

विद्यापति का मुख्य प्रतिपाद शृंगार रस है। इन्होंने शृंगार रस के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। सभी तत्त्वों का सविस्तार व सरस प्रस्तुतीकरण किया है। वयःसन्धि से लेकर प्रौढ़ा नायिका तक की अनेक चेष्टाओं का चित्रण इनकी पदावली में परिलक्षित होता है।

वयःसन्धि का स्वाभाविक चित्रण—

''किछु-किछु उतपति अंकुर मेल।
चरन चपल गति लोचलन लेल।
अब सज खन र आँचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बातो''।

बचपन के बाद यौवन की अवस्था का वैविध्यपूर्ण चित्रण भी किया है—

''कि आरे! नव जौवन अभिरामा।''

आलम्बन की चेष्टाओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक चित्रण भी स्पष्ट दिखाई देता है—

''आध आँचर खसि आध बदन है हँसि।
आधहि नमन तरंग''।

उनकी अलङ्कार योजना भी सफल कवियों की भाँति सजीव, स्वाभाविक एवं भावोत्कर्ष है जहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा एवं श्लेष का समावेश है—

"पल्लवराज चरन जुग तोभित गति गजएजक भाने।
कनक कदलि पर हि समारल तापर मेरु समाने"।।
—उपमा

भाषा में भावों को व्यक्त करने की शक्ति है—

"काक भाख निज भाखह रे,
पहु आओत मोरा।
खीर खाडं भोजन देब रे,
मारे कनक कटोरा"।।

वहीं चित्रात्मकता की भी अपूर्व शक्ति है—

"चिकुट गरए जलधारा।।
जनिमुख ससि डर रोअए अँधारा"।।

इसी प्रकार इनके काव्य में अनुकरणात्मकता, संगीतात्मकता एवं लोकोक्ति व मुहावरों का भी दर्शन होता है।

मूल्यांकन

आदि कवि विद्यापति से पूर्व हिन्दी साहित्य की कोई विशेष परम्परा न थी। फलत: वे संस्कृत कवियों से प्रभावित हुये, जिनमें कालिदास, जयदेव, गोवर्द्धनाचार्य, माघ एवं अमरुक का नाम विशेष है। उन्होंने इनसे प्रभाव ग्रहण जरूर किया, किन्तु अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर उसे अधिक हृदयग्राही बना दिया। हिन्दी साहित्य की गीति परम्परा के जनक विद्यापति ही हैं। रसिकजन इनके रीति में सरलता का गुम्फन करना विद्यापति की काव्य प्रति है, समाज के समस्त साहित्य अध्येताओं ने इन्हें सम्मान दिया है।

Crime free society through Dharma

Profe. D. N. PANDEYA
H.O.D. Departt. of Vedic-Studies
S.S.S. University Veraval-(Gujarat)

Introduction-

Crime is a denaturant drop of poison (1) that mars the harmonious feature of human society. It emerges out from dissatisfaction imposed by extrinsic phantoms in which competitive aught of material inclination works silently. Also it may be said that when some times our inherent beast ship awakes to satisfy our ultra sensual and ultra material requirement clouded by beverage of toxic selfishness of human beings, deliberation of human beings suppressed and the inert demonic cells are automatically activated to deviate from the righteous way even a gentle person and compels him to take illegal steps.

Hence to uproot this poisonous plant of crime the institution of **Dharma** is obligatory to be founded.

The research paper here will be shedding light on the following major points of crime and would be dropping a few hints of solution to make our society crime free to ensure the natural life for human beings congruous even to all walks of life that may maintain the balance in society.

Genetics of crime-

In the history of anthropology more or less all the anthropologists of the world are of the single centric view that human beings' ancestor was ape(2). If we count Lord Hanuman as a supreme soul according to the generous motto सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (3) - (the single entity of super soul develops in various incarnated forms of divine forces.) then hardly any complication in regard to the world developing theory of Darwin may spoil the theory of theistic origin of world depicted in Indian scriptures so violently. It is well read perception of our scripture that demon and divinity are the two major parts of the same supreme soul(4). Their division is supposed to be on account of the trinity of attributes. Owing to that of together generation of both the divine and demonic genetics generally unseen and unfelt even by great scientists to some extent lives in subtle body of all creatures. Human beings in particular, appear with much amount of divine power, so that deliberative intelligence helps them amply to be more civilized than that of beasts. The hold of that very deliberative intelligence of human beings gives special rank and file to them and provides identification. There are some domestic and wild animals also in which in the comparison of other lower graded animals the inert divine light comes in their practical affairs of life, in order to be divinized in human society. Such type of domestic animal in Indian culture is revered cow who has occupied a place of worship in our scriptures. This very revered species of cow are described as the four footed form of Dharma

in **Bhagawat mahapurana (5).**

Crime as a bad instinct developed with the embryo due to the aggressive emotion or violent, impure and uncontrolled erotic emotion existing by birth in a person is closely related with the criminal activities of him. It never bursts out sudden but it is elevated and ignited through the exotic atmosphere surrounding of a person or persons accused. It has been illustrated vey effectively in the great **Geeta** as such- काम एषः क्रोध एषः रजोगुणसमुद्भवः। महाशनोमहापाप्मा विद्ध्येनमिहवैरिणम् (6)।

It means the seed of desire to satiate organ's and senses' material requirement always exists somewhere in heart and mind of human beings and when the apt magnet like subject passes through its scanning approach; sudden darkens the natural layer of mind to proceed forward towards the execution of crime or sin. Hence the **Geeta** here makes out clearly that these desire and the like are the internal foes of human beings that exhort human beings to commit crime- literally known as sin. Focusing on the ideation of and nature of individual soul; Lord Krishna says in the great **Geeta**., in the effulgent light of the portraying of divine quality teemed individuality of a man, that there is hardly, in real sense, any agency of sin seems existing in human beings to let deform the heart and mind of or deviate a person from his righteous track of life; but effects of the trinity of attributes namely ***Triguna*** does so. And the ultra aggressive involvement of the trinity in mental operative activities supported by exoteric negative stuffs, a man moves adversely having been clutched and fettered by strongest illusion and he fails to pick up the sign and signals glimmering in his nervous faculty of mind to lead him towards righteous way of tackling the life problems and winning over anger, enmity, greed and hate existing in sleeping mode in human mind. Being defeated by these negative and inhuman stuffs of mind he is pushed towards the criminal activities.

It is here worthy to divulge that the inner side negativity reacts variously that appears on the face very first and when it is not controlled calmly through religious wisdom led action and attitudes it's negative energy spread speedily in all limbs of body and discovers a suitable rout to exit from body. In this situation the tender conscious faculty in human brain having been clouded and suppressed by this negative flow of energy transformed in to criminal or violent emotion or virulent wave of emotional faculty in mind, makes all our limbs perturbed. This very stage compels a man to commit the crime. The motive of the crime going to be taken place also differs in the light of instincts of human beings. Because of the internal different streams of criminal instincts criminal activities also differ numerously. This all symptom of the crime has been depicted well in the great **Geeta** and other Indian scriptures. The savaged society in the very outset of the human civilization; reactions of human beings came frankly into the violent forms; but with the gradual progress of the same society improvement dominated and directed the society latter on. The improvement was the outcome of the then religious practices in society.

Classification of crime

Our Indian scripture generally lays down three types of life - material life, divine life and the spiritual life span. But this trinity of life span is internally connected. It means in the eyes of

the *Vedant* philosophy based on Upanishads *promulgates* that human life is the lowest rank of life. But through the way of righteous activities in life a man can purge his mind and heart to improve again it to have the divine life through the study of *Vedant* philosophy. *Finally* the divine life may be upgraded to the rank of super soul. Also the *Sankhya* philosophy says the same thing.

The perception of crime though, is connected with all the three types of life but much more effects we feel in our human life. In *Shastr a-* s many an edifications are available that are enough to judge the consequence of the practice of righteous and unrighteous deeds done by the then divine figures. The Vedic literature and the classical literature are teemed with the stories and historical events to support this idea. Especially the theory of incarnation seems also based, to some extent on this reward and punishment, in the matter of religious and religious customary duties. The study, of *Yoga* and the like are also included in the literature that shed light on this theory. To avoid ultra prolixity of the subject and to stay with current subject to be focused the detailed study of the divine and spiritual subjects in this concern are not entertained properly but now the category of crime and remedy for way out of this socio criminal juncture are taken in to account as follows-

Although, it is very difficult job to give accurate idea of the origin and the general classification of crime but in the light if direct and indirect sermons of the seers of the scriptures we can sketch out a general category of criminal activities as mentioned here under-

Crime

THE crime may be classified in to Mental and Physical crime. Again the first develops related to-

Negative desire, Negative thought, Negative approach, Negative protest, and Individual interest avoiding patriotism towards Nation, activities against social harmony, against Humanitarian ethos and cruelty towards creatures. The second category of criminal activities that emerges out from devastating individual ego, cover the areas of anger propelled domestic violence as beating, abusing, attempt to murder and cold blooded homicide and the like that spread out vastly in society gradually to generate anarchy in civil society. Here it is worthy to mention that the symptoms of all these criminal instincts and inclination in human beings starts from their cradle period of time due to the carelessness of parents and guardians, about the moral conducts prescribed in all religious schools in which, role model seers and prophets have also delineated the fact of life system. Also here it is to clarify that though this classification of criminal activities are located as mental crime and physical crime but it is only for our easier understanding of the same. The fact is that they all are naturally linked with each other. For more clearance all crime voyages on negative boat of mental stuff accumulated and reach its destination of devastation and damage of the social approved system if the symptoms and signals of the same are ignored in proper time. Though it is also true that the looming large storm of crime hardly comes within our deliberative rang for tracing out and controlling it but the scriptural sermons of the various religious teachers of the ages are the suitable antidotes of the criminal activities if reverently and faithfully followed by us.

CRIME IS A DEVASTATING CURSE OF NEGATIVE MENTALITY

It is here worthy to note that according to the simple understanding peace and crime produced from divine powers and demoniac forces consequently, in the eyes of scripture emerge out from the same parental perception of **Prajapati(7)** or super creative agent- lower than supreme God. It means deities and demons emerged both from the same body of **Prajapati.** The adverse activities or unrighteous instincts in human mind come from the demons while the favorable and righteous quality in human beings comes from that of divine power. And the concept of **adharma** and **dharma** are based on the directive attitudes of demons and deities. The criminal instinct of human is a gift of demoniac province. It is apparent that if a flow of river water in rainy season is not diverted properly it spreads in a vast area of land. Just like this if our organs and senses are let loose they divert our mind to a dirty drain of materialism in the terms of criminal activities. Now it would be very fair to think of the reason of unacceptability and unlawfulness of the crime and criminal activities in civilized society. In this concern we must have think very fairly that the Nature is runner of our society. So, its regulation and injunction must be reverently followed. On this basis of understanding of Nature rules, the Vedic seers have formulated certain injunctions in scriptures to avoid complication and reactions potential.

For this testing the real rules of Nature for social system we have to see the life story and history of our religious teachers of past who passed their life in the secluded forest vast vista in which all types of creature lived together naturally and the persons engaged in penance to observe the signals of Nature and natural vast extent, experimented variously to see the reaction and action of Nature in the perspective of formulation of the social system of world. It is here worthy to put faith in this assumption of the scriptures that immediately after the creation of the creative agent namely ***Prajapati*** the divine powers by various names were made incarnated for the proper management and system development in society of human beings. In this very course animals of all species were created with food stuffs for all creatures. Then the species of human beings on the earth came.

With this very exercise and experimentation of the available species created variously by ***Prajapati*** or supreme Nature our sages preached their sermons on all grounds related to all walks of life system. The outcome of the experiments done by the seers of the past at all levels exhorted them to deliver in the words of sermons - the seed of main religion what is called ***Sanatan dharma.*** Hence these activities of our life system depicted in scriptures are approved as the factors of Dharma. The contrary attitudes of it are called sin and crime in the perspective of social system prescribed in scriptures. Hence because of the suitability of Nature and humanity the criminal activities are prohibited in scripture and over taking attitude of or going against the prescribed scriptural rules are punishable having being treated as criminal cases- such as speaking untruth, violence, anti-national activities, inhuman acts molesting, kidnapping and the like. Because of that reason the crime is not acceptable in our society. The same theory is applicable to all civilized social system of world. In the lack of social rules our life system and civilized social way of life shall

be devastated.

WAY OUT OF CRIME

It is truly all known that the whole world hates crime in general and particular criminal activities, that threaten established social system. And each country of the world has its own judiciary and legal institutions to curb the criminal acts. But they are not enough to uproot completly, so now the common network of crime seems occupying the whole humanity.

There are as the Vedic culture ,based on the Vedic literature and its allied scriptures show in allegoric terms that without proper application of the religious activities to human life individually and collectively the criminal cases would not be restrained. It is here noticeable that the religious activities are closely connected with heart and mind. The Vedic literature giving a grave idea of **Dharma**, connects it with the proper study of the Vedas in which moral values and life values in the perspective of social harmony are well described with sincere efforts by the seers and scholiasts. Hence the concept of **Dharma** in Indian culture emerges from perfect education that builds perfect man to bring peace and prosperity with equality in social life of human beings. The area of **Dharma** with same feeling of life value spreads to domestic and wild life along with all creatures. Because of this the Vedic mythology preaches us to see all walks of life as the species of supreme soul. Thus our scriptures try first to purify heart and mind of human beings through proper education of the ***Vedic*** literature. All the manuals of ***Dharmashastra*** in their out outset give clear idea of the world and world creation mystic and the mechanism of the world creation through supreme soul or supreme creator.

After that they (the scriptures) show the complete picture of the world organization and social management for running the society properly. In this very course of study they - the seers of the ages lay down rules and regulations that suit to Nature and its extent. The ***vedic Dharma*** always shows connectivity of social system with the natural phenomena, so they equally gives importance to wild life and all kinds of plants, creepers, rock, sea and the like. They doing so make people cautious to the co-existence of various natural forms. Through that way they have tried to put impression of humanity on human beings. By this way they have been succeeded to a great extent to prevent criminal instinct in its very beginning. For the rest species of criminal motives and tendency of human beings the seers of the ***Dharmashastra*** frame rules. And in the case of overruling of the same punishments for offences are also laid down variously in scriptures of Manu, and the other as such- पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नः मासमासीत संयतः। गोष्ठेशयोगोनुगामी गोप्रदानेन शुद्ध्यति। *(YAGNYAVALKYASMRITI - PRAYASCHITTADHYAYA - 263, 64)* It means- a cow slaughterer is suggested to drink Panchagavya - five substances produced by a cow for the expiating of the blot of murder of the cow, maintain restrain over sense organs' natural and unnatural activities for a month, he should sleep in a cow pen, and extend his devoted service to cows together with donating a cow. Here it is noticeable that no harsh punishment is suggested inhumanly manner but the scripture's intention seems to make realize a culprit his sin committed by any reason.

Fear is a most remedy of criminal activities than punishment-

The religious books reaches out to the main seed of the criminal instinct of a man and accordingly prescribes the sermons to be delivered by a perfect teacher of religion. It has been a psych of a man that he believes the most in unseen power than corporeal one. The seers of the **Shastras** take its advantage and preaches the norms of ***Dharma***, such as मा हिंसात् सर्वभूतानि To believe or not to believe is a nature of brain but the instinct that lives in sleeping mode in human beings is truly congruous with religious norms. Hence our seers of the past controlled the society properly through the way of religion. They found out the main reason of crimes in the forms of inequality, sense satiation, feeling of discrimination among the species of creatures produced by Nature and by product of it and action of human beings against moral teachings of the **Scriptures.** So, they prescribed the various rules for the social management free from crime. People may comment upon and criticize the scriptures today abundantly but the mirror of the society depicted by our past seers is not for a particular time but with a small modification as we see the historical changes in scriptures; the moral value - the vital energy of curbing device of crime remains the same in all condition, to be applicable to all walks of life. Hence it comes that the religion through its teaching of moral value does positive efforts to curb the crime in society. Because of that we find a pleasant society in ***Treta*** and ***Dwapar Yugas*** in which the crime was less and it was cooled down suddenly when ever its sign came up in society. We can see its edifications in the forms in the context of exile of Seeta on a trifle comment in public domain about a king as ***Bhavbhuti*** drops hint in this terms-

देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो जनो यतः।
रक्षो गृहस्थिमूर्लमाग्निशुद्धौ त्वानिश्चयः।।

uttarramcharita-act-1,6- it means people are naturally scandalous in regards of women and speech and so they raise sinful doubt about Goddess ***Seeta*** and also her fire tested purging image. It is here noticeable that, whether it is Ram or Krishna of their perspective time they all tried to show the paramount power of ***Dharma*** in society. For instance when ***Krishna*** is suggested to kill ***Shishipal***, he waits long to do so until his ripen crime as says **Magha** in these words-

सहिष्येशतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया। प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृश्वस्रे प्रतिश्रुतम्। ***Shishupal-vadham-2-108*** .

the purport of the stanza is that Krishna had promised not to kill **Shishupal** so far as he commits hundred sins. It is here necessary to make clear that ***Krishna*** gives him proper chance to turn his mind towards righteous way of life so he is not in hurry to punish him brutally. Another thing is that he is fallen in a dilemma of two obligatory duties of killing the sinner(Shishupal) and attending the religious sacrifice organized by ***Yudhisthira.*** He finds that at any cost the religious function in which deity is to be extolled and worshiped must be entertained first. He has a belief that after worshipping of gods the act of punishment towards ***Shishupal*** may be executed. Here it is remarkable that he gives priority to religious act.

Therefore it comes that the unseen fear of gods' annoyance in the mind even of ***Lord Krishna*** prevents him from the mission of sinner killing.

Conclusion

Hence it is here concluded that the scrip-

tures lay down some means to make our society free from crime as follows-

(1) The performances ***of Yajnyas.***

(2) Detachment from material lust.

(3) To see equal power of super soul in all human beings and all the species of creatures.

(4) Abiding by ***Sanskara-s*** order.

(5) Study of the ***Vedas*** and faith in duty based life instead of involvement in the hurly-burly of right, might and fight for material gaining that brings about pain and mental tension to keep aloof from emancipation.

These are the main factors developed variously in all religious schools of world to make people naturally happy and prosper in the lap of Nature.

References

(l) Activities that involve breaking the law, see- Oxford Advanced L. Dictionary.
See also Geeta 2, 37

(2) Modern Christian theology, compelled to recognize that man evolved from ape-
History of Religion, page -9 by Sergy Tokarev, progress publication Moscow- 1986

(3) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मारश्विानमाहुः।।
—ऋ. 1.164.46

(4) See page- 386, Oxford Advanced Learner's Dictionary.

(5) Bhagavat Mahapurana, 1-1/28-54 and 1/17/1-16

(6) Geeta-3/34-37 and Yogasutra of Patanjali- Smadhi pada (Panchklesha) trans. By Swamivivekanand.

(7) द्वया ह प्राजापत्याः देवाश्चासुराश्च —बृ.उप. 3/1 by Swami Madhavenand.

Steele & Addison

Devisharan Tripathi

Ex Lecturure English
Buddha Intermediate College
Kushinagar UP.

Steele[1] is not entirely, like Addison, a man of his time. By some traists of his figure, he recalls the care-free graces of the Restoration; by others, and probably the most characteristic he announces the effusions, the display of self, the ethics of sensibility, which the eighteenth century will make fashionable. He is a classicist only by accident and opportunity. His thought is naturally clear; be possesses a certain faculty for composition, the gift of delicacy and fine shading; but the secret ideal he pursues is that of a pleasant negligence; his form is less laboured, less careful than it is spontaneous; the disciplined art of his best pages owes much to the example of Addison.

A fertitle mind, a generous personality, attractive even in its weaknesses, steele draws to himself sympathies that his friend of a colder and more conscious nature repels His literary initiative has been sometimes honoured more than it deserves. Though in the creation of an original variety of essay he has played a decisive part, he alone, or even more specially he, cannot be credited with having brought it to the degree of perfection it attained. He has his charming felicities, but the art of Addison has a finished distinction, of a more even, more sober, and more secure effect.

The Christian Hero is the most significant of confessions. Steele expresses therein without knowing it the deep-rooted demand which the middle classes ladi down as a condition of their rallying to the doctrine of the classicists classicism to them is acceptable only if it is moral. To the pagan traditions therefore will have to be added the spirit of christianity, as interpreted by the puritan conscience. The wisdom of the stoics, declares steele, is not enough to live and die by; the virtue of antiquity can retain its hold over the imagination, but the realities of conduct escape it; only the lesson of christ can awaken in souls a spirituality capable of sustaining that courageous independence towards the world where by true heroism is known. The needs of moral regularity, of idealism, of feeling —such are the tendencies which the middle classes bring to that transposed expression of the inner life out of which literature is

made. To them it will often be only a convention, as steele himself di not remain on the level of the precepts he laid down; but, hence forth, conscience will find a ncessary tranquillity in the official sway of these rules, even when they are not strictly observed in practice. Through them the tone of social life will be gradually attered.

The tatler is the individual work of steele. It appeared therice weekly, and preserved the features of periodicals given over to general information, such as the Athemian mercury of Dunton, and the Review of Defoe[1]. Each number treats of several themes, and allots special headings to literary and political news. But steele soon discovers the task to which his surest instinct inclines him; the reform of manners. He borrows from swift the comic figure of Isaac Bickerstaff, astrologer and magician, a clever diviner of the private secrets of his fellow - beings; and in a series of imaginary portaits, which conceal real originals, he undertakes to bring to the notice of the public and of the ghilty people themselves the errors of vanity, egoism, and extravagance which disturb the pleasant and decorous order of social inter course. The work thus begun is some what analogous to that which the solons and circles of the precieuses had accomplished in France during the seventeenth century; it represents a victory of culture over the rough, uncouth excesses of too individualistic a civilization. The crusade of the tatler and the spectator comes much later than that of the Hotel de Rambouillet; it is instinct with a middle-class and not an aristocratic spirit; again, it does not tend above all towards the nefinement of language and thought, but towards the purification of morals and human relations. It is none the less, at bottom, of a parallel intent, and equally constitutes an action of the intellectual elite upon the life of cultured circles; It is an English and so more moralizing, counter part of the same movement.

In England the coffee-houses replace the salons. They play a part of the same order, in a relative sense. They offer to a class, the social influence of which tends to increase, the material means to comes together, to define its tastes and to take stock of them. Here it is that public affairs, literary news, fashions, scandals, are discussed; an average opinion is created and formulated; it is already, in certain essential elements, the middle class opinion which will hold undisputed sway in the nineteenth century. As yet it is not bold enough to impose its own influence. It aims at a compromise between the aristocratic temper of moral freedom, which the restoration had carried to a licentious excess, and the puritan spirit, which the excesses of the commonwealth had brought into disrepute. The task of steele and Addison is to reconcile these opposite tendencies, to moralize hefinement and refine morality. They

are able, thanks to their personal distinction and delicate tact, to bring about a synthesis in which aristocratic culture keeps a place large enough to reassure the intellectual susceptibilities of the classical age. There is nothing here as yet of that philistinism with which the English middle classes will be charged latter, and not without some reasons.

Steele has intiution of this synthesis, and sincerely works to realize it, but he seeks it chiefly by way of sensibility. The doctrine be outlines in the Tatler is already, to some extent, thet of Rousseau. In this paper he discovers the charm of tender sentiments, of family affections, of homely manners; to a generation withered by cynicism and the parade of Libertinage, he reveals the pleasure that lies in experiencing the simple joys of the heart, the healthy sadness of regret and of memory : the novels of Richardson will show the development of these germs.

He exalts conjugal love, and recalls his impressions of childhood; all the broad the deep vein of the literature of familiar emotion in thus reopened; and in this refrieved tone, modern and middle - class England feels the national note she has been looking for. Never since then has she allowed it to be lost.

In the texture of his work, steele's aret it more fecund and happier than it is infallible his humour is of a prettinly tender and persuasive quality; he has an instinctive sense of the devices by which the attention of the reader can be sustained and held fast; he imagines a meeting of odd characters, the 'Trumpet Club', and gives to each of them that innocent whimsicality which lends to the figures an air of sympathetic truth; in this Dickens will be his distant inheritor. He thus adumbrates many thing, and already realizes more than one. But he is wanting in care, in self-control, his appeal to the feelings is occasionally too cacile, his moral too obvious, while some developments, in their over-explicitness, offer but little interest. with all the merit of their spontaneity, these essays are of a rather loose pattern. The ssatire, the portraits remain a little sketchy and superficial. The personal works of Addison will be to strengthen and develop this matter, and to refine its form.

Addison[1] is eminently a classicist, he has very little resistance to overcome in his nature that he many live in harmony with the doctrine. His temperament and his life reflect a happy balance, undisturbed by any accidents or doubts. He owes his harmony to the fact that his artistic creed and his moral faith were from the beginning united in a perfect fusion. With him the middle class mind assumes a distinction which makes it easily equal to the most studied aristocratic fastidiousness; and his religious

leanings confirm, instead of contradicting, the wholly intellectual hierarchy of artistic values which classicism is setting up.

His beginnings are academic and humansistic; he steeps himself throughly in the restrained elegance of the purest culture of antiquity; the past occupies him more than the present. If he travels in Itly, it is above all in order to note the memories of ancient rome; landscapes or paintings have less apeal to him than inscriptions; he writes dialogues upon the usefulness of old medals. Already, however, the commerce and finance of Genoa, the constitution of venice, intrest him; a mind of general scope and clear intelligence, but shrewd, and capable of concrete moral perception, he will readily busy himself with public affiars. His idealism is that of the middle classes : the sense of economic realities remains its very foundation.

The vocation of literature, meanwhile, is awakening in him; and poetry is then the best and speediest road to fame. So in the course of his travels he writes a letter in verse to his patron Lord Halifax; and as his tastes and affinities connect him with the fortunesh of the whig party, the agrees to serve its interests with a timley panegyric of Marlborough, the Compaign. These pieces reveal an estimable poet, a talent skilled enough to escape in a large measure the defects of his qualities; but the qualities of his defects are not vivid enough to redeem the essential artifice of such inspirations. These are very creditable application of the classical necipe, but without any serious originality. His opera, Rosamond, confirms him, through a signal failure in an instinctive aversion for the vulgar devices of this inferior kind of writing, under the Italian form in which at this moment it was conquering the English stage. His political career, however, develops under the most happy auspices. Then it is that the tatler of steele, his former school fellow, provide his with the means of expression he is looking for, and out of the TAtler arises the Spectator.

The instrument might have meant little, but for the author's instinctive prevision, both of the lows governing it and of its possible effects; and this intuition festifies to a creative force in Addison, that is fed by his temperament and his experience. Like steele, he has a desire, and feels the urgent need, for a reform in morals; he agrees with the deep-felt longing after a more decorous order of things, after a better regulated conduct, which is being evidenced since the manifesto of collier; and while he does not, like steele, reap the knowledge of human weakness from his own inward frailty, he has a natural leniency, a tolerant gentleness of soul, which temper a rather puritanic severity of principle.

It is greatly to Addison's credit that whereas he might have judged life above all from books, he showed himself an informed observer, a Judicious critic of manners and characters. This he owes to a natural finesse, and a tact of thought; the habit of analysing, which his literary studies had developed, here finds itself directed, throught a rare and felicitous harmony, towards the intelligence of souls; Addison fully realizes the doctrine of classicism because he prossesses a lucid and exact notion of the matter which is henceforth to be his the humours, the moral shades of human beings living in company; within certain limits, but with precision and security, he is a psychologist.

The Spectator has nothing about it of a periodical meant for information; it neglects the happenings of every day, save now and then, by an odd allusion; it gives itself up entirely with the exception of the advertisements, the commercial tenor of which contrasts strangely at times with the contents them selves - to a daily essay on morality, literature, philosophy, serious or humorous neflection Addison and steele aided by a few occasional collaborators, keep up this effort of speedy composition and renewal of sujbect matter for more than twenty - one months; they relieve it through little devices, such as the insertion of real or fictitious letters, the insistence on certain themes, or on series of connected subjects which maintain and carry on te interest, and though the didactic tone ends by becoming dangerously pronounced, the collection as a whole forms the most charming, the most varied and the least sermonizing of commentaries upon social life as it is, and as it should be.

At the centre of this life, and of its most active focus, the capital, stands a supposed spectator, at work with observant eyes, carefully nothing the very dtails and the external aspects of the comedy of human relations; with a mind that studies penetrates, interprets, thoughts and hearts alike; with a moral sensibility, supple and delicate that reacts according to the wishes of conscience. This imaginary judge is a composite figure, to which the personality of Addison contributes most of its traits, and when once the bond of sympathy is established between him and his public, he comes to play a part of increasing importance thanks to a repeated, daily action, in the intimate life of a select few. This part of director and lay adviser demands, in order to be happily sustained an extreme pliancy, an intellectual authority, a natural gift of seduction. It is because they were able to display these merits that the authors of the spectator have merits that the authors of the sspectator have exercised a moral influence which counts in the history of English Culture.

A Critical Study on Hermann Hesse's Siddhartha

Dr. Pawan Dwivedi
Associate Professor in Department of Humanities
Deputy Registrar (academics)
Parul University Vadodara

Hermann Hesse's Siddhartha consists of a great number of philosophical and sociological questions and we would like to discuss Siddhartha and in part Shreemad Bhagwadgeeta, Garudpuran and Masusmriti to assert that the Vedic literature does indeed offer answers to each and every question regarding enlightenment. One should try to understand the subtle nuisances of the concepts. hidden in these systems of knowledge before questioning them.

Siddhartha is an attempt at explaining how the enlightenment that was achieved by Gotama through renunciation and meditation, could be achieved by following one's dharma at various points in one's life. Manu-smriti offers a way of life which people have followed as a system to achieve the ultimate truth of life. The Hindu tradition has details of how when Lord Ganesha and his brother Kartekeya struck a bet as to which of the them would be able make a Pradakshina of the world first, while Kartekeya, who was known for his strength, left to go round it immediately, Lord Ganesha, known for his presence of mind, went thrice round where his parents sat, thus completing it first. In other words, the Hindu tradition lays stress on the service and care of one's parents as the way to salvation.

Siddhartha's sojourn in life, his encounter with his son, his life by the river makes him realize the same truth, especially when he is rejected by his own son. Siddhartha believes that truth lay in each and every thing, and that there is no, need to go anywhere. Keeping control over 'One's greed and sincere commitment to following the tradition laid down in our scriptures would help one attain the ultimate truth of life. However, by going against the tradition, one would only increase one's suffering and become disillusioned with life.

There are four ashrams according to the Hindu tradition and these are brahmacharyashrama, grihasthashrama, vanprasthashrama and sanyashrama, and every human beings must conform to ways of life and perform the duties set for each of these ashramas or stages of life. Hesse' s Siddhartha seems to accept these stages as the right ones in the cycle of life.

Brahmacharyashrama: This is the first stage of life when a child begins to learn and understand, get educated, maintain celibacy so that hi mind does not begin to divert to any thing other that learning and education under the tutelage of a guru. Grihasthashrama: It is after the completion of education that one enters this stage of life when he gets married and sets up a family of his. own, and begins to perform his duties as a' son, brother, husband, father etc. Vanprasthashrama: This is the stage of life between one's life as a grihastha and sanyasa, or renunciation. Sanyashrama: The

stage in one's life when one is required to renounce worldly life and begin leading a spiritual life in the service of the Divine so as to attain moksha, ie freedom from the cycle of life and death, or salvation.

The scriptures do not ordain bachelorhood forever but do not· approve of untimely and illegitimate physical relation while one is getting educated, failing which there would be diversions that would become impediments in learning. Siddhartha and Govinda follow this to the dot as they grow up, but since the focus of attention in the novel is the protagonist Siddhartha, we learn of his physical relationship with Kamala after he left the Samanas and Gotama. Siddhartha's son is born out of the wedlock and is thus an illegitimate child who refuses to accept him as his father. This seems to underscore the importance of the sacrament of marriage in the Hindu way of life.

Siddhartha clearly establishes that nature is the best teacher and understanding nature is a prerequisite to understanding oneself, one's life and one's society. The Indian religious tradition has always emphasized the worship of nature in its various manifestations by holding rivers, mountains, the peepal (banyan) trees, fire, earth, ether, wind, water, etc as sacred. The Buddha attained enlightenment under the Pipal tree and Hesse's Siddhartha attains enlightenment at the River.

The Garudpuran discusses life after death and gives a very fair picture regarding karma and rewards. It warns people going against the systems developed by the elders. Mrityaloka could be both heaven and hell depending upon our karma, and karma again in central to Shreemad Bhagwadgeeta. Siddhartha tries a find enlightenment but fails to free himself at first either from materialistic achievement or from spiritualistic gain. Ultimately he reaches the conclusion that one should try to find out the mid way to live peaceful and social life- ie the madhyammarga. Although Siddhartha is shown abandoning the materialistic world because he thought that it was nothing more than mithya and maya, an illusion, distracting a seeker from his spiritual path. Therefore, he renounced his father's home and all kind of worldly pleasure to build the base for a spiritual take off. He shunned all the foods and luxuries which fill the being with sloth. He focused on only one thing and that was meditation and truth of life. He had a questioning mind and he imbibed whatever he heard from Samanas, Gotama, Kamala, Kamaswami, the river, and Vasudeva but not without questioning what they taught him.

His foray into the materialistic world after his spiritual quest in the second part of the book makes him realize the futility of at all. There was no wisdom even there though froni Kamala he had learnt that pleasure can be had by learning to give pleasure to others. It is only at the river that he is finally able to see the larger picture that everything is only a matter of perception and understanding. Everything in life is bipolar in nature. If there is life, then there is death; if there is truth, then there is untruth; if there is love; then there is deception; and so on.

A human being is but a human being and holding this unity is the biggest dharma the universal, dharma. Every living being is a life and as such, at the end of our vertical journey we find an absolute oneness at the root of this apparent diversity. Dharma ceases to be dharma when it fails to teach how to realize this ultimate

unity which binds the whole of the universe.

Siddhartha believes in unity of thinking and knowledge. Therefore, Siddhartha feels knowledge alone cannot help one understand life. Therefore, Siddhartha argues with Buddha and so I think, O illustrious. one, that nobody finds salvation through teaching. To anybody, O illustrious One, can you communicate in words and teaching what happened to you in the hour of enlightenment. That is why I'm going on my way-not to seek another and better doctrine for I know there is none, but to leave all doctrines and all teachers and reach my goal alone or die.

One can see Govinda finds meaning of life but Siddhartha resolves, ... and so I think, O illustrious one, that nobody finds salvation through teachings ... I will learn from my myself, by my own pupil; I will learn from myself the secret of Siddhartha.

Here, we would like to see in the context of what Manusmriti is all about Manusmriti is as a matter of truth not only Dharmasastra but Purusarthasastra as it deals with Arth, Kama and Moksa also. But since it regards Dharma as a stepping stone for realizing the other three and with the result it discusses "Dhanna" in a greater detail it is called and in fact it is Dharmasastra. As such it prescribes ways for earning money strictly through right means; for utilizing money in a rightful manner and enjoyed married life and procreating progeny and finally attaining Moksha. Manusmriti deals with the human nature, human relations, human needs and human requirements. It recognizes human shortcomings with the utmost sympathy.[2]

Manu recognizes the fact that is natural cannot be wrong even though curbing or subduing or sublimating natural instincts may be beneficiary and it is not altogether impossible.[3]

Siddhartha takes care of all the four pillars of Hinduism:

1. Dharma: Brahmacharya-shrama (student life)

2. Arthaand Kama: Grihastha-shrama (family life)

3. Moksha: Vanprasthashrama and Sanyasashrama (ascetic life)

(I) Dharma: Brahmacharya-shrama (student life)

Siddhartha (the son of Brahmin) prays as per the Hindu tradition and offers sacrifices. He gets fed up of all this very soon, and decides to join the Samanas to escape from all monotonous rituals of worship. He leaves his father's house along with his friend Govinda. Govinda also happens to be the name of Lord Shrikrishna. They join Samanas, who are wandering monks, living in the woods, trying to conquer the inner self by fasting and living like ascetics. They stay in the Samana fold for around three years and gain nothing except the ability to fast and to do things that monks can do normally. This is the time when they come to know of the Buddha and since they are dissatisfied with the Samanas, they leave to pay a visit to the place where Gotama, the Buddha was giving sermons to his followers. Govinda joins Buddhist monks and an unconvined Siddhartha who is unsure that wisdom (enlightenment) can lead to knowledge and salvation (Moksha) leaves to find the truth for himself. This is the point when he enters what may be called in the grihastha-shrama.

Siddhartha's entire journey from traditional religious practice to Buddha's teachings fails to lead him to any wisdom. Psychologists

are of an opinion that the periods of childhood and adolescence are those of curiosity, which is nothing more than intellectual hunger, and hunger knows no ethics. Its concern is with its satiation and that may, perhaps, be the reason why scriptures are taught in the childhood. Gaining knowledge, questioning, experiencing and arriving at logical conclusions are the important steps leading to wisdom in real life. Knowledge can be uniformity but not wisdom. Wisdom varies from individual to individual and that is why Siddhartha is right when he concludes that" Knowledge can be communicated, but .not wisdom." Gotama had renounced the world during his grihasthashrama but Siddhartha reverses this and enters the grihasthashrama in search of truth, wisdom, and salvation.

(2) Artha and (3) Kama: Grihasthashrama (family life)

Artha (economy) and Kama (physical passion) are represented in grihasthashrama wherein man practically experiences various aspects of the personal, family, professional, and social life. Sociologists explain the imporetance of family life by by discussing how every individual in the set up should respect others in the family. Fmily life teaches people to become accommodative and respectful of other members' opinions.

Siddhartha's wandering takes him to the pleasure-grove of a lascivious courtesan, the beautiful Kamala who is courted by the rich elite in the city in which he finds himself. She teaches Siddhartha the basics of artha and kama and once he become a rich merchant only kama. He becomes rich by serving Kamaswami who is approached by several people at the behest of Kamala to mention him about Siddhartha's arrival in the city. He spends years together and get more and more embroiled in the pleasures of life that money could buy for him. However, there is a moment in his life when he experiences immense lust, then greed and subsequently feels hate. The result is that he finds himself to be lost in the mazes of this world of sensuality and avarice. Herman Hesse describes his condition in the following lines:

His heart was so full of misery; he felt he could no longer endure it. He was full of a nausea which overpowered him like a distasteful wine, or music that was too sweet and superficial, or like the too sweet smile of the dancer or the too sweet perfume of their hair and breasts. But above all he was nauseated with himself, with his perfumed hair, with the smell of wine from his mouth, with the soft, flabby appearance of his skin. Like one who has eaten and drunk too much and vomits painfully he then feels better, so did the restless man wish he could rid himself with one terrific heave of these pleasures, of these habits of this entirely senseless life.

Then one day he leaves the city and everything else behind him very quietly without telling Kamala or Kamaswami. This is the point from where his journey to salvation begins.

(3) Moksha: Vanprasthashrama and Sanyasashrama

His second chance meeting with Vasudeva, the ferryman, proves to be yet another turning point in his life. Vasudeva teaches him how to listen to the river, and to learn from it. While with Vasudeva, he meets his dying beloved Kamala who introduces him to their son. The son refuses to recognize him as his father, which is when he is reminded of how he had

turned his own back on his father years ago. His present suffering seems to hi, to be directly related to the past in his own life, and He remembered how once, as a youth, he compelled his father to let him go amd join the ascetics, hpw he had taken leave of him, hoe he had gone and never returned. Had not his father died long ago, alone without seen his son again? Did he not expect the same fate? Was it not a comedy, a strange and stupid thing, this repetition, this course of events in a fateful circle?

Through the search of enlightenment, Siddhartha not only discovers many things for himself but the meaning of what he had seen and experienced becomes clear to him. Therefore, He no longer saw the face of his friend Siddhartha. Instead he saw other faces, namy faces, a long series, a continuous stream of faces-hundreds, thousands, which all acme and diapered and yet all seemed to be there at the same time, which all continually changed and renewed themselves and which were yet all Sidhhartha...... he saw the naked bodies of men and women in the postures and transports of passionate love .... He saw all these forms and faces in a thousand relationships to each other, all helping each other, loving, hating and destroying each other and become newly born Siddhartha not only experience it but overcomes it so successfully that he experiences great peace within himself, a certain kind of self discovery. He explains to Govinda towards the end of the novel reason for his having chosen to experience the life of a grihastha without actually going through the solemn rites and rituals of marriage:

I learned through my body and soul that is was necessary for me to sin, that I needed lust, that I had to strive for property an experience nausea and the depths of despair on order to learn not to resist them, in order to learn to love the world, and no longer compare it with some kind of desired imaginary world, some imaginary vision of perfection, but to leave it as it is, to love it and be glad to belong 10 it.

Thus, Siddhartha seems to follow all four stages of life given in Manusmriti. He performs the obligatory rites and rituals but does not follow dharma and thus remains dissatisfied. Siddhartha goes through the paces of arthakama as a grihastha without the sanctity of marriage to Kamala and the leaves both Kamala amdKamaswami in the lurch making no arrangement whatsoever for his own replacement in their lives. He does not follow the norms of vanapra-shtashrama and tries to move into sanyashrama. There is advice on when to seek sanyashrama in Manusmriti:

When a householder sees the creases appearing on the skin, the hairs becoming grey and the son having his own son, he should got to the forest.[4]

Life teaches him very valuable lessons and his philosophy that he shares with Govinda towards the end of the novel in the following words:

This, he said, handling it, is a stone, and within a certain length of time it will perhaps be soil and from the soil it will become plant, animal or man. Previously I would have said: this stone is just a stone; it has no value, it belongs to the world of maya, but perhaps because within the cycle of change it can also become man and spirit, it is also of importance ...

This stone is stone; it is also animal, god and Buddha I do not respect and love it be-

cause it was one thing and will become something else, but because it has already long been everything and always everything. I love it just because today and now it appears to me a stone ...

There are stones that feel like oil or soap, that look like leaves or sand, and each one is different and worships. Om in its own way; each one is Brahman... words do not express thoughts very well. They always become a little different immediately they are expressed, a little distorted, a little foolish, and yet it also pleases me and seems right that what is of value and wisdom to one man seems nonsense to another.

The Manusmriti shows the way to move from one stage of life to another, for instance, about sanyasa-shrama, it says that the brahmana must always be in the observance of renunciation abandoning all sorts of attachments, much in the same way as Vasudeva retires to the forest before his death, yielding his role of a ferryman to Siddhartha. The Manusmriti also explains why this transition from stage to stage is necessary: moving from one stage of life to the other, having poured oblations into the fire, having full control over senses, fatigued with begging for alms and offering sacrifice that the one who renounces attains brahma hood after death. It emphasises on the need for the clearance of three types of debts - to the gods, to the rishis, and to the munis before moving to sanyashrama to gain moksha. He who does not clear the debts, while trying to attain moksha, goes to hell.5 siddhartha abhors teachers and teachings but clears his debts to the gods, shows respect and believes in the teachings of the Buddha.

On the other hand, if one were to look at the Buddhist philosophy, one would find that it is based on the four noble truths, viz

1. Truth relating to existing of suffering in cyclic existence

2. Truth relating to cause of this suffering

3. Truth relating to the cessation of suffering

4. Truth relating to the path resulting in the cessation of suffering

It goes on to explain that dukkha or suffering is the unsatisfactory, disjointed state of all worldly life; that samudaya or attachment or desire due to ignorance lies at the root of all suffering; that nirodha or nirvana is the end of all suffering; and that marga or the noble eight-fold path is a path that leads out of suffering.[6]

There are five percepts in the Buddhist philosophy, and tense are

1. Refraining from harming living creatures (killing).

2. Refraining from taking that rich is not freely given (stealing).

3. Refraining from sexual misconduct and, therefore, insistence on celibacy.

4. Refraining from incorrect speech (lying, using harsh language, slandering indulging in idle chit-chat).

5. Refraining from intoxicant which lead to the loss of mental equilibrium.

Marga or the noble eight-fold path lies in

1. Right view. 2. Right resolve. 3. Right speech. 4. Right conduct. 5. Right 6. livelihood. 7. Right effort. 8. Right mindfulness. 9. Right meditation.

Over and above this, the Dhammapada, a collection of 423 verses, is one of the canonical books of the Buddhist, which contain

guidelines on how they should conduct themselves in life.

Siddhartha's initial failures owe themselves to his inability to follow the noble eight-fold path of the Buddha who he had accepted as his guru but had refused to follow him because he had seen a gap in his teaching. He attains enlightenment which he conforms to the eight-fold path of the Buddha towards end of the novel during his chance meeting with his childhood friend Govinda.

Notes:

1. Cited in the forward in Kishorarn Aggarwal(ed). 2000. KalyanaKalpataru, Hindu Samskrti number, vol. 46, no. 1, October 2000.
2. L.P.Mehrotra. 2000. Hindu samskrti, rebirth and sanskaras in Kishorarn Aggarwal(ed). 2000. KalyanaKalpataru, Hindu Samskrti number, vol. 46, no. 1, October 2000.p.56.
3. Cited in the forward in Kishorarn Aggarwal(ed). 2000. Kalyana Kalpataru, Hindu Samskrti number, vol. 46, no. 1, October 2000.p.56.
4. Manusmriti, Ch. VI, in in Kishorarn Aggarwal (ed). 2000. Kalyana Kalpataru, Hindu Samskrti number, vol. 46, no. 1, October 2000. Page 161
5. Manusmriti Ch. Vl, in in Kishoram Aggarwal (ed). 2000. Kalyanak Kalpataru, Hindu Samskriti number, Vol. 46, no. 1, October 2000, Verses 32-234, p.167
6. Wikipedia "Buddhism: principles of Budhhism". Accessed 10th march 2007 <http://www.experiencefestival.com/a/Buddhism/id/52567>.
7. Ibid.
8. DipankarKhanna. "Buddhism: the Noble Eight-Fold Path". Accessed 10 march 2007 <http://www.experiencefestival.com/a/Buddhism/id/9451>.

Impact of NAAC Accreditation on Higher Education Institutions

Dr. Ganesh Hegde Deputy
Adviser, NAAC
Hegde is presently working as Deputy
Adviser in National Assessment and
Accreditation Council, P.D. Box. No. 1075, Opp.
NLSIU, Nagarbhavi, Bangalore-560072. He can be reached through
e-mail: ganesh179@gmail.com

Lines of command are linear
(and turn us reactive)
Lines of communication are circular
(and make us proactive)

-William Arnold & Jeanne Plas

The Context:

The National Assessment and Accreditation Council (NAAC) is a flagship Quality Assurance Council in India. The University Grants Commission (UGC) established the NAAC in 1994 head quartered at Bangalore with a mandate to assess and accredit Higher Education Institutions in India and also with an objective of maintenance and improvement of quality in Higher Education.

NAAC has been actively engaged in the performance evaluation and implementation of quality sustenance procedures in universities and colleges. NAAC vision and mission statements clearly specify its functioning highlighting quality assurance mechanism in higher education institutions with the combination of self and external quality' evaluation, promotion & sustenançe activities and initiatives. The prime agenda of NAAC is to Assess and Accredit institutions of higher learning with an objective of helping them to work continuously to improve the quality of education. Assessment is a performance evaluation of an institution and for its units and is accomplished through a process based on selffstudy and peer review using defined criteria. Accreditation refers to the certification given by NAAC which is valid for a period of five Years. The process of Assessment followed by NAAC is in accordance with internationally accepted practice but, with certain modifications to suit the Indian context.

NAAC is a full member of The International Network for Quality Assurance Agencies in Higher Education (INQAAHE) since 1994 and also founder member of The Asia-Pacific Quality Network (APQN). NAAC has an active MoU with AUQA- Australia, COL- Canada, HEEACT-Taiwan, IEEE- USA, HEQC-South Africa, NQA-Nepal and other countries. NAAC has helped many agencies in the Asia Pacific region to set up good quality assurance agencies.

The philosophy of NAAC is ameliorative and enabling rather than punitive or judgmental, so that all constituencies of institutions of higher learning are empowered to maximize their resources, opportunities and capabilities.

NAAC has accredited more than 9000 institutions (including first cycle: **266** Universities and **6348** Colleges; **Second Cycle: 138 Universities and 2474 Colleges; Third Cycle: 32 Universities and 237 Colleges)** in the country as on July 11,2016.

From Resistance to Acceptance (1994-1999):

In the initial years NAAC has put forth its best efforts to propagate the quality assurance mechanism in the country. Awareness programmes on assessment and accreditation were conducted in number of Universities and Colleges. To enhance the effectiveness of NAAC activities, diversified activities and strategies have been conducted by involving the Directorate of Higher Education of different States, University Development Councils, Boards of College and University Development, and Academic Staff Colleges. NAAC has faced several challenges and resistance from the academia for the assessment process. Various activities were conducted to infuse the quality culture among Higher Education Institutions. Prof. Arun Nigavekar, the founder Director of NAAC wrote in the book 'NAAC a decade of dedication to quality assurance' that in one of the University awareness programme one Vice-Chancellor got up half way and said that the idea that is being presented (concept of quality and taking judgment on quality) is not workable in the Indian higher education system and suggested that *"the teachers may go back to their respective departments and spend their time on more meaningful activity"*.

During this critical period NAAC has brought out many documents, guidelines on assessment and accreditation, literature on Quality Assurance and Quality Promotions. Teachers from University and Colleges were involved for the crusade of the quality promotion activities.

Many of the institutions had apprehension and some of them were indifferent or reluctant to undergo the process of accreditation by NAAC. A few institutions with very positive in their approach have volunteered to undergo the process of accreditation. In the year 1999 about nine institutions were assessed. These institutions have served as a catalyst to improve the quality culture.

Acceptance to Appreciation (1999-2002):

During this period an array of activities have been undertaken to popularize and publicize the assessment activity. Multi-pronged activities have been undertaken by involving State Governments through establishment of State Level Quality Assurance Cell (SLQAC), with financial support from NAAC. Directorate of Higher Education conducted large number of awareness programmes on quality sustenance and enhancement.

In the year 2001, NAAC has developed National Action Plan in consultation with Ministry of Human Resource Development (MHRD) to involve the state governments for quality promotion and assessment activity. State Governments took pro-active role in the accreditation process and in helping the NAACs mission to organize seminars, orientation programmes, discussion meetings for principals, teachers, students and other stake holders to understand the relevance and advantages of accreditation. Biannual conference of International Network for Quality Assurance Agencies in Higher Education (INQAAHE) was held at NAAC in the year 2001 which has created an academic ambience for the NAAC.

Ministry of Human Resource Development (MHRD) has declared the year 2002, the 'year of quality in higher education'. NAAC has conducted more than 100 awareness programmes through out the country. The sensitization of the

accreditation process has been visible in the Indian scenario. Maharashtra, Karnataka, Haryana, Assam, Gujarat and Madhya Pradesh State Governments have made the accreditation as mandatory.

The Grading System From 1999 to 2002 is appended below:

Grading System	
Grade	Institutional score (Upper limit exclusive)
A*****	>= 75
A****	70 – 75
A***	65 – 70
A**	60 – 65
A*	55 – 60

About 258 institutions of higher learning were assessed during this period.

Grading System (upper limit exclusive)			
Grade	Universities	Colleges	Total
A***** (>= 75)	19	21	40
A**** (70 – 75)	22	35	57
A*** (65 – 70)	05	20	25
A** (60 – 65)	01	04	05
A* (55 – 60)	-	01	01
Total	47	81	128

Large Volume of Accreditation (2002-2007):

Due to the national action plan and state governments' initiatives many of the higher education institutions have applied for NAAC for accreditation. From the initial period of resistance it has moved to acceptance. NAAC has accredited 1023 institutions in 2003-04, 1071 in the 2004-05, 478 in 2005-06 and 627 in 2006-07. Many new initiatives such as Annual National Meet of State Commissioners/ Directors of Higher Education were undertaken. Best Practices series like Internal Quality Assurance Cell, Library and Information Services, Community Engagement, Evaluation of Students, Student feedback and Participation, Curriculum Development have been brought out. More than 2000 Institutions have established IQAC and NAAC has supported more than 200 seminars/workshops during this period.

The year 2005-06 has declared ***'Year of Student Participation in Quality Assurance'***. Several seminars were sponsored and an International Conference on Student Participation was organised. The year 2006-07 was declared ***'Year of Promoting the Internal Quality Assurance Systems'*** and a National level workshop was held on IQAC and NAAC supported many workshops at state, and national level. More than 20 Assessors' Training Programmes were held through which about 800 Assessors were trained. NAAC-UNESCO, NAAC-COL Training Programmes for Teacher Educators were also organized. During this period NAAC has developed methodology for Re-Accreditation i.e. Second Cycle of Assessment and Accreditation. Further, National consultative committee meeting was also held to fine tune the methodology and scoring pattern. The change in the scoring pattern for Re-Accreditation from 100 points to 1000 points without changing the grading pattern based on Key Aspects / Micro- Indicators were initiated. NAAC advocates every accredited institution to establish an Internal Quality Assurance Cell (IQAC) as a quality sustenance measure. IQAC would become part of an institution's system and work towards realizing the goals of quality sustenance and enhancement. Almost all the accredited Institutions have established the IQAC and they are engaged in developing strategies to internalize the quality culture. NAAC should insist on Minimum In-

stitutional Requirements (MIRs) for Re-Accreditation, Functional IQAC, Website, compliance on previous assessment report and submission Annual Quality Assurance Report to NAAC.

A workshop on preparation of self-study report and a training programme for assessors on methodology of assessment were conducted to orient both, the institutions and the assessors. Feedback programmes from peer teams and institutions were conducted to fine tune the methodology. Industry persons were inducted as observers in Re-accreditation process to promote industry institution interactions.

NAAC has brought out State-wise analysis of the Accredited Institutions. Abo':!t 10 States reports have been published and had interaction with Higher Education Secretaries, Vice Chancellors, Director Higher Education and Principals of the Accredited Colleges. The following grading system was followed from 2002 to 2007.

Grading System	
Grade	**Institutional score (Upper limit exclusive)**
A^{++}	95-100
A^{+}	90-95
A	85-90
B^{++}	80-85
B^{+}	75-80
B	70-75
C^{++}	65-70
C^{+}	60-65
C	55-60

If the overall score is more than 55%, the institution gets the "Accredited status" and any score less than that would lead to "Not Accredited" status. The accredited institutions were graded on a nine-point scale with the above scale values. More than 3500 institutions were assessed during this period. The grade wise analysis is given below:

Grading System – 9 point scale (upper limit exclusive)			
Grade	*Universities*	*Colleges*	*Total*
A^{++} (95 – 100)	02	-	02
A^{+} (90 – 95)	04	51	55
A (85 – 90)	19	256	275
B^{++} (80 – 85)	31	619	650
B^{+} (75 – 80)	23	857	880
B (70 – 75)	10	851	861
C^{++} (65 – 70)	03	419	422
C^{+} (60 – 65)	01	248	249
C (55 – 60)	-	110	110
Total	93	3411	3504

Several eminent academic have suggested changes in the grading, methodology as well as the functioning of peer team members. Hence there was a decision to relook in to the grading system as well as the methodology itself. The ground work for new methodology was done during this period.

Change of Methodology from 2007:

As we all know Change is only permanent in this world. NAAC is continuously revising and reviewing its methodology to make its methodology as robust as possible to keep abreast in Higher Education. The challenges of Higher Education as well the scenario have changed during recent times. After assessing and accrediting more than 3500 institutions of higher education, it has been decided to fine tune manuals, to focus on the quality parameters and indicators. The purpose of this exercise of change is to implement an appropriate strategy for improvement in line with its vision and mission.

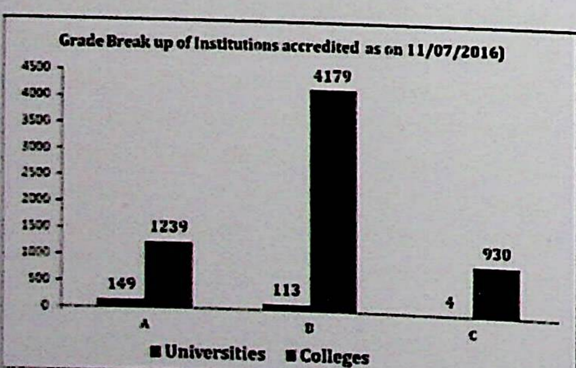
The New Methodology was introduced from 1st April 2007. The criterion, key aspects as well as core-indicators as guidelines were introduced to make the methodology for rigour and robust. The grading pattern of9 (nine) point letter grades has been changed to three letter grades, A, B, C, with Cumulative Grade Point Average for accredited institutions and D for not accredited. The following table shows the grading pattern up to 30-06-2017.

Range of Institutional Cumulative Grade Point Average (CGPA)	*Letter Grade*	*Performance Descriptor*
3.01 - 4.00	A	Very Good (Accredited)
2.01 - 3.00	B	Good (Accredited)
1.51 - 2.00	C	Satisfactory (Accredited)
≤ 1.50	D	Unsatisfactory (Not accredited)

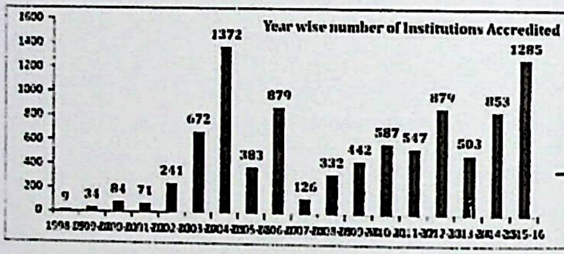
Under the new grading system, a Cumulative Grade Point Average (CGPA) is arrlved at, which reflects the quality status of the institution.

Grade -wise Break Up of Institutions accredited (As on 17/03/2016)

	A	B	C	Total
Universities	149	113	4	266
Colleges	1239	4179	930	6348



NAAC has formulated its core values for its accreditation framework: (i) Contributing to National Development; (ii) Fostering Global Competencies among Students; (Hi) Inculcating a Value System among Students; (iv) Promoting the Use of Technology; (v) Quest for Excellence Overall these core values need to be reflected in the self-study report by the institution and the team also need to focus on qualitative changes in the institution. Since inception, NAAC as an apex body for Quality Assurance has done more than 9000 accreditations. Yearwise accreditation data given below:



---

* As onJuly 11,2016

Revised Grading System of NAAC comes into effect from 01st July 2016. Other details relating to revised grading system are as under:

CGPA	Letter Grade	Status
3.76-4.00	A++	Accredited
3.51-3.75	A+	Accredited
3.01-3.50	A	Accredited
2.76-3.00	B++	Accredited
2.51-2.75	B+	Accredited
2.01-2.50	B	Accredited
1.51-2.00	C	Accredited
≤ 1.50	D	Not Accredited

The present system of descriptors for letter grades, i.e., Very Good, Good, Satisfactory, Unsatisfactory, is discontinued in the revised

grading system. As of now except for the letter grades to be assigned, all other aspects of Assessment and Accreditation methodology such as the Criteria, Key aspects, calculation of Cumulative Grade Point Average (CGPA) etc. and the manuals remain the same. The new grading pattern would help the NAAC to categorize the institutions in the systematic manner is also taking care in designing, modifying the Manuals, format and indicators.

Impact of NAAC:

1. IQAC funds from UGC: Quality is primarily the responsibility of higher education itself. Each institution should develop an efficient Internal Quality Assurance Cell (IQAC) to ensure a quality culture at the institutional level: Annual Quality Assurance Report (AQAR) is to be submitted annually to NAAC. UGC is funding the College for establishment of IQAC with rupees three (3.00) lakhs and Universities with rupees five (5.00) lakhs.

2. Quest for excellence is a continuous process of enhancing the competencies and potentiality of the Institutions to the highest level of standards. For applying for the UGC schemes like the "Universities with Potential for Excellence" (UPE) Universities of Excellence (UoE) Status, applying institutions should have Accreditation by NAAC with Grade "A".

3. Further Colleges with Potential for Excellence" (CPE) will also be decided by the UGC with respect to the NAAC Accreditation status either "B' or "A". Only such of the colleges which are accredited with 'A' grade with more than 3.5 CGPA will be eligible for consideration as College of Excellence (CE) under the Scheme.

4. Many policy decisions such as UGC Autonomous College Status, continuation of Autonomy by UGC (NAAC/NBA certificate, Whether college has been accredited by NAAC/NBA, mention the rating)

5. One of the major consideration for applying for Deemed to be University Status or Deemed University to open new campus is depends on NAAC Accreditation

6. Mandatory Assessment and Accreditation of Higher Educational Institutions Regulations (2012): All Institution of Higher Learning will have to compulsorily undergo the accreditation from an accrediting agency. Many Institutions are applying to NAAC for the purpose of Accreditation.

7. More than 5000 accredited Institutions have established Internal Quality Assurance Cell (IQAC): Quality enhancement need to be encouraged and Quality must be embedded in the institutional culture. The Academic Audit, need to be periodic process in the HEIs. IQAC has to operate as an internal mechanism of an institution which would work 365 days for qualitative improvement in all activities of the institution. Institutionalization of IQAC after post accreditation is a very step of NAAC which will contribute at the level of clarity, focus of institution. The IQAC helps for performance improvement, enhancement. It also integrates various activities and many best practices happens in the institution.

8. More than 26 states have established State Level Quality Assurance Cells (SLQAC), in turn those states have conducted more than 400 workshops in their jurisdiction. Facilitated more than 2500 seminars/conferences across the country on quality related issues like use of Internal Quality Assurance Cell (IQAC), Use

of ICT for Quality Enhancement, Best practices in Higher Education, Students Participation for Quality Enhancement, Teaching, Learning and Evaluation,. Academic and Administration Audit, Curriculum Design and Development. Submission of AQAR year wise is a mandatory in the NAAC process to keep the institute abreast with the process of quality improvement in HEIs.

9. Accreditation has become a powerful weapon in the battle for job' placement, Advertising for the Colleges and Universities, draw good staff, attracting good students, management taking interest to improve the Infrastructure, support service, wi-fi campus, library automation, disabled friendly campus, motivating staff and students, Alumni hunt, meet, support, and resource mobilization, etc., are happening on the verge of Accreditation.

10. Rising significance of the Accreditation is reflected in competition among HEIs and student enrolment in the campuses. The societal recognition, competftive market forces on employability and its acceptability has risen in the recent years.

11. Many Universities are taking the cognizance of the NAAC accreditation status for granting permanent affiliation etc. and to apply for UGC Act 1956, 12B status.

12. The Department of Science and Technology under its scheme Faculty improvement in Science and Technology (FIST) utilizes the NAAC accreditation. Presently, UOC, RUSA, NCTE endorsing the accreditation grading for funding, granting projects and other purposes, even some of the Research Institutes in abroad are also asking for NAAC accreditation.

13. The Department of Biotechnology (DBT) identifies colleges with potential for excellence and provides academic and physical infrastructure for achieving excellence in teaching and unique exposure of students to experimental sciences. Most of the colleges which are the acumen towards research in biotechnology have applied to the DBT availed the grants. Most of the North Eastern States have applied for Star College scheme and got the funding states like Assam, Meghalaya & Aizawl.

14. Consideration for expansion in terms of courses and student in-take in teacher education institutions by NCTE, have been decided based on the NAAC grading.

15. Accreditation motivates faculty to participate actively in academic and related Institutional/departmental activities. The CAS, API schemes has been implemented by the Colleges and Universities facilitates the Improvements at the Individual level initially and further it enhances the involvement of the faculty for institutional growth.

16. Accreditation opens up a sound and challenging academic environment in the Institutions, and adds value to the overall performance of the institution and contributes to social and economic development of the country by producing high quality technical manpower.

17. Accreditation promotes intra-institutional and inter institutional initiatives. Communication Channels has been established for bottom up approach in many institutions. Relationships and papers written by faculty have been increased in the recent years. Inter institutional collaborations, research work, faculty exchange, students exchange has been invented for mutual benefits.

18. Many publications has been brought out within NAAC and in collaboration with

UNESCO, APQN, COL Training Programmes for Teacher Educators etc., More details can be obtained from the NAAC website.

19. Many parents, students, employers, Government Agencies, funding agencies, Foreign Universities, Collaborating agencies, are looking the NAAC website for information about status of the Institutions.

20. Many of the foreign Universities are looking for the NAAC accreditation before admitting the students for respective courses. A few Universities have given the fee waive, accommodation, scholarships to the students who are from India and from the accredited Institutions.

For Ex. The WES Policy, WES now recognizes Indian 3-year Bachelor's degrees as equivalent to U.S. Bachelor's degrees, when the following conditions are met:

i. The degrees have been earned in Division I and

ii. The awarding institutions have been accredited by India's National Assessment and Accreditation Council (NAAC) with a grade of "A" or better (http://www.wes.orl:/educators/pdflIndiaPolicyPacket.pdf. Accessed on 17-08-2016)

21. NAAC has got an international fame/recognition either by the participation of their faculty directly in the process of evaluation as an international assessor, by facilitating the process of accreditation in countries in Asia Pacific Region, by providing training, by playing a proactive role in international collaboration, and/or by participation in global perspectives to form an organisation.

Conclusion:

Accreditation plays a critical role in the institutional overall improvement, enhancing its societal image and status. It helps the institution to know its strengths, weaknesses, opportunities, challenges and identifies internal areas of planning and resource allocation. It also enhances interpersonal relationships and collegiality on the campus. Many Institutions have updated the curriculum and initiated innovative and modern methods of pedagogy for the benefit of students. Accreditation gives the institution a new sense of direction and identity with greater sense of accountability and enhanced credibility. The impact study on NAAC assessment was not taken up in a systematic manner. The methodology should be robust to elicit the quantitative and qualitative aspects of the process. Good evaluation requires that evaluation efforts themselves be evaluated. Many things can and often do go wrong in evaluation work. Accordingly, it is necessary to check evaluations for problems such as bias, technical error, administrative difficulties, and misuse. Such checks are needed both to improve ongoing evaluation activities and to assess the merits of completed evaluation efforts. A meta-evaluation needs to be undertaken by NAAC at the earliest.

(The views expressed in the article are personal)

References:

1. A Decade of Dedication to Quality Assurance (2004), NAAC publication.2004, Pub-141.
2. Daniel Stufflebeam Meta-Evaluation, December, 1974
3. http://www.naac.gov.in/publications.asp (New Manual for Assessment and Accreditation - For Affiliated Colleges, New Methodology, Effective from 1st April 2007) (accessed on 04 February 2011).
4. http://www.naac.gov.in/Publications/IQAC_2005.pdf (Guidelines for the Creation of the Internal Quality Assurance Cell ((IQAC) in Accredited Institutions - A Post Accreditation Quality Sustenance Activity, (accessed on 04 February 2011)
5. http://www.uec.ac.in/financialsupport/xiplan/euideline.html. (accessed on 04 February 2011)
6. http://sjec.edu.in/pdf/Paper%20Presentation%20-Mithun%20Kumar.pdf
7. http://www.ugc.ac.in/pdfnews/0722837_guidelines-autonomous-colleges.pdf (Accessed on 14-03-2016)
8. http://www.wes.org/educators/pdf/IndiaPolicyPacket.pdf Accessed on 17-08-2016
9. *Institutions Accredited by NAAC, (2007),* NAAC Publication No. 199
10. Judgement on Institutional Accreditation (1997), NAAC Publication No. 28.
11. Meta Evaluation (2001) NAAC Publication No. 58.

Educational Model From Upanisads : Is it applicable today?

Dr. Bhagyalata A. Pataskar
Director, Vaidika Samshodhana Mandala
(Adarsh Sanskrit Shodha Samstha)
TMV Colony, Mukundnagar, Pune-37

A lot has been written on ancient Indian education system. Various aspects of education in Vedic Period are also well discussed. I would like to add a few points to these studies which are as follows:

A. The entire Vedic education system was primarily aiming at preservation of the Vedas and its ultimate aim was acquisition of the knowledge of the absolute one.

B. I sincerely maintain that the system has given enough consideration for developing `student materials' in the child. Once 3e a child is admitted as a student then shaping or molding a student or building his charters is obvious, but developing a `student material' in a child is something different.

C. Both these points mentioned above are based on the references about the methods for educating a child which we find especially in the upanisads.

D. At present when education has become industry, we are talking in terms of the `product of so and so university'. Apart from a few honorable exception, the students generation is confused, tensed and easily susceptible to any type of evil.

D-1. I am trying to find out whether we can developed any such model for education which is suitable for today's situation and yield the best that ultimately would bring the reforms in the society and save it from various evils.

1) I would like to start from the vary word upanisad, which itself implies a different type of Guru-Sisya model. Upa+ni+sad means sitting nearer, closely, which further implies close intimacy and hence affection between teacher and student. It is because the teaching was aiming at not only imparting the information about various objects, but transmitting what he had to the student. And this entire activity was certainly aiming at leading him to the experience of the absolute one.

1.1) Therefore an api and effective method developed by the sages is `dialogue'. We do not find the long discourse or unilateral lectures or preaching. The fact that it is very interactive is clear from the forms of the pronoun Idam which is used to demonstrate nearer objects, the verbal of second person and vocative. e.g

ईशावास्यमिदं सर्वम् .... ईशोप. १

The first person verbal forms are also very significat. e.g.

ये नस्तद् विचचक्षिरे। ईशोप. १०.१३

न विद्मो न विजानीमो..........केनोप. १.३

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि ....केनोप. १.५

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ...केनोप. २.१

1.2 Repetitive Patterns found in the Upanisads is also due to the teacher's making a child understand the issue directly. A teacher here is not teaching but trying to make a child to understand it firmly. e.g.

यन्मना न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। केनोप. २.६
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंशि पश्यन्ति।। ७
यच्छ्रोत्रेण न पश्यति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।।८

Also a famouse dialogues between Yajnavaikya and Maitreyi and Yajnavalkya and Gargi in Brhadaranyakopa (5.4 and 4.5) themselves are very good examples of success of this method.

The repetitive pattern considers all the details related tc ticular issue and puts it in rhythmic way.

1.3) The most attractive and effective way of teaching is telling is a story. Thus there are several stories in the Upanisads. The story of Uma Haimavati (from kenopa, 3.4.1) to state 'ब्रह्म महीयते' or the story of द द द (from the Brhadaranyakopa. 5.2.3) to explain the sound of the lightening, can be quoted here.

I find it important because instead of arguing, narrating, describing, the teacher opts for telling story. This directly makes the student understand not only on superficial intellectual leved but on the experience level directly. Then it takes no time to grasp the import of the story. Since a story has to do with the experience and not just imparting the information, I think that the aim of this education can hardly be making a student a bundle of information unlike today's one.

1.4) The Upanisasic Literature is full of analogies, e.g.

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।।
कठोप. २.५.९
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रातिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपां प्रतिरूपो बभूव।।
तत्रैव, १०
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। तत्रैव, ११

or the analogies from the Chandogyopa.

यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति, मृत्तिका इत्येव सत्यं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्। (छान्दोग्योप. ६.१.४.)

Maksikadrstanta and arkamaricidrstanta from Prasnopa, 2.4 and 4.2 etc.

Analogy in Sanskrit means drsanta, were anta means core, essence. The analogy is the day to day experience, e.g. a leader honey bee leaves a honey comb them all others follow it. Different rivers enter sea become one with it and lose their identity in name and form. These experiences lead a student directly to the main import. Sankaracarya while commuting on Munakopa 7 Says 'अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखावबोधार्थम्'।

A point to be noted here is that the under tone of the Mandukyopanisad Karika is arguing, lecturing and it is assertive, descriptive. Naturally there are several statements. Analogies are comparatively less.

In addition to that the analogies also create sensitivity and awareness about our surrounding.

1.5 Form view point of student's side utmost importance is given to tapas and svadhyaya and sraddha. Tapas need be reduced

to more efforts. The tapas is originated from tap, a meaning complex of which includes warmth and light essentially. A mind, body and intellect ae continuousy, uninterruptedly pointed to one and only one object, then the efforts can be called tapas. In addition to that the tapas has spiritual inclination. It imples a sort of hatching. A student is instructed to do tapas. In the Taittiriyop (1.1) a teacher gives him a guideline cf यतो वा इमानि भूतानि etc. He also gives him clue how to proceed with cf अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तैत्तिरीयोप. २.१. The Varuni does tapas and finds out an answer for यतो वा इमानि.......etc. However each time his father just tells him 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' and each time varuni comes with different answers. cf तद्विज्ञाय Finally he himself gets the correct answer.

I find it very impotent and significant from view point of teaching methodology where a student is motivated to find out answer fitting to the model and that too with practicing tapas. A student is supposed to continue with his tapas, till he finds an absolute answer.

In the story of Svetaketu Aruni. Svetaketu is motivated to experience himself, to think over the issue and to understanding matter completely (Chandogyopa 1.1). The strength and the effectiveness of the teaching method here lies in the fact that the father himself is the teacher. He addresses the child with the affectionate terms 'अङ्ग', 'सोम्य'. The story reveals one more significant point from view point of teaching methodology. The father asks vetaketu did you ask your teacher that `adesa' instruction 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवति' (छान्दोग्यप. ६.१.३) implying that it is the student's responsibility to ask the questions and literally `acquire' the knowledge. Here the father is not preaching him philosophy, or proving with the arguments the Absolute one rather the father is injecting in him one of the best qualities of the students which is `inquiry'. Then Svetaketu goes on asking questions and his father explains the things to him, or he requests his father to explain it again for him and the father does so.

In the incidents of the nyagrodha phala (chanogyapa 6.12) and putting salt in the water (ibid 6.13.1), the father actually involves him in the experiment. Finally Svetaketu himself understands, what father wants him to understand.

In the nyagrodha phala instance, Svetaketu says that there was nothing inside the seed after having been crushed it. Then his father explains if the tree comes out of the seed then you have to accept that there must have been something. 'श्रद्धत्स्व सोम्य'। The Upanisad implies that the sraddha deep, sincere and unshaken faith is quality and this plays very important role in gaining the knowledge.

1.6) Asking the question forms the most important and inevitable part of the teaching methodology which we find in the Upanisads. The whole Prasnopa, Kathopa, Brhadaranyakopa where Janaka, Maitreyi and Gargi are asking questions are enough to reveal this feature of this methodology. A beautiful word we find in the Brhadaranyakopa is Kamaprasna c.f. सः कामप्रश्नं वव्रे I ibid 4.3.1 This implies that Janaka got right to ask any question and Yajnavalkya was suppose to answer it. Asking the questions means curiosity on the part of the student, freedom to ask and deep faith in his heart that he will get the answers.

2) These characteristics observed in the Upanisads about the teaching methods, imply that teaching here means Brahmavidya. In other words if the Brahmavidya is to be taught then this type of method is essential near lectures and group discussions or doubt solving session at the end of the lecture won't do Chandogyopa 7.1.2 mentions the syllabus. Here Narada says to Santkumara 'ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि यजुर्वेद: सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'। In order to acquire and maintain this much dulk and utilize when required, needs not only the human efforts to study but the devine grace also. The Santipathas at the beginning serve this purpose. It is to be specially noted that the course of Narada is not restricted to brahmavidya, but also includes kastravidya, naksatravidya i.e. the mundane disciplines.

3) A Question frequently comes to my mind that what would have been the aim and objective of education system of Upanisads? Considering the present scenario the aim and objective of the education is `making a good human being'. `Good' may mean smart, philanthropic, sympathetic etc. which means it is not defined or definite. However the Upanisadic education system seems to have set the goal for education on two different levels. Primarily Vedaraksana was the objective. It was the objective of not only individual, but of the entire society. The Vedadhyayana was the only means towards that goal. So the entire lifestyle of a child even before it becomes student, was designed in the particular way. However several references about the insistence on tapas, svadhyaya, brahmacarya, sradha and importance given to spiritual experience, queries about the absolute one, imply that the absolute aim of life on individual level was mokesa, or the knowledge of the absoulute principle. I sincerely maintain tat when aim or objective lies outside one's life and has social or greater bearing it may be providing motivation, E.g. Getting the freedom could prove the motivating force to a lot of people before independence. I think, today's the aim of education is to make civilized well cultured human being, is to be reconsidered. The aim should bigger of which this will be byproduct.

The me it seems that the education system in the Vedic days seriously thought of `student material'. I mean to say that the upbringing of the child wa in such a way that the child would be nothing but good student. To day the studentship starts after a child is admitted to a school. Then the teachers take efforts to make him good/ ideal student.

On the contrary what we find in the Upanisad is somewhat different picture 'सत्यं वद धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्यदेवो भव..... (तैत्तिरीयोप. १.११) etc is an address not to a student on his start of the education but it is an instruction to one who is going to enter into marital bondage. The person is supposed to do the svadhyaya i.e. recitation of Vedic text everyday as a duty. This daily practice and आचार्यदेवो भव as a code of conduct must be contributing to the atmosphere essential for urge for learning. It seems that at certain age sending a child to a school has become ritual, where as the Upanisads have the learning as a part of lifestyle. Svetketu's father tells him, in our family bobody stayed without vedadhyayana. Thus the education friendly

environment not only in the family but was in the society which led a child to pursue his vedadhyayana. Thus vedadhyayana was not an issue of law, custom, convention but a part of individual and even social life style.

To Conclude -

I admit that we can hardly implement the Upanisadic model as it. However a few points can be tried for betterment.

1. To maintain very close relation between a teacher and taught a number students be restricted.
2. An education with teacher need not rather should not start from the baby group. An interest, curiosity about the learning be naturally immerge and should be nourished and developed in the family. To create so is the responsibility of the family. So counseling the parents with view to educating a child is necessary.
3. The usual method of lecturing, demonstrating, question, answer, sessions be appended with dialogue, direct experiments, direct experience.
4. Tapas, svadhyaya, brahmacarya and sraddha be given due importence in education system. Svadhyaya in today's context can be taken as revising what is already taught.
5. Aim of education be seriously reconsidered. Here is a point to think of - to build strong nation, to preserve our cultural heritage and bring peace in the society can be the aim of education.
6. Education system, if not based on spirituality, but incorporating spirituality could be tried.

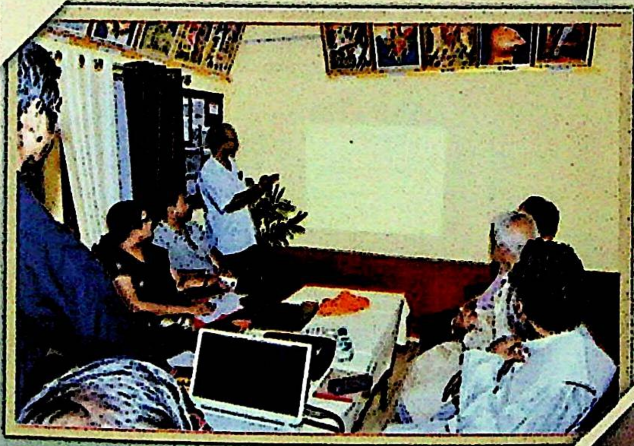
References are from Eighteen Principal Upanisads Vol. I ed. Limaye V.P, and Vadekar R.D. Pub. by Vaidika samshodhana Mandala, Pube; 1958.



लिंग संवेदनशीलता (जेंडर सेंसिराईजेशन) कार्यशाला (वर्कशाप) 2 दिसम्बर, 2018 के अवसर पर उपजिलाधिकारी श्री दिनेश कुमार, रिसोर्स पर्सन चिकित्साधिकारी डॉ. वी. प्रसाद, प्राचार्य डॉ. राजेश कुमार चतुर्वेदी व संयोजक श्री मोहन पाण्डेय।



गीता जयन्ती के अवसर पर प्रो. प्रमोद कुमार पाण्डेय (पूर्व विभागाध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र), बुद्ध पी.जी. कॉलेज, कुशीनगर को सम्मानित करते संस्था के मन्त्री श्री गंगेश्वर पाण्डेय।



महाविद्यालय के नैक परीक्षण के अवसर पर नैक टीम की को-आर्डिनेटर प्रो. किरन कला जैन, प्रो. सुधाकर मिश्र (सं.सं.वि.वि., वाराणसी) व म.वि. नैक को-आर्डिनेटर श्री मोहन पाण्डेय द्वारा प्रजेंटेशन।



गीता जयन्ती के अवसर पर प्रो. हरेराम त्रिपाठी को स्मृति चिह्न प्रदान करते तत्कालीन प्राचार्य डॉ. राम सुबास पाण्डेय।